नागरीप्रचारिणी पत्रिका

ग्यारहवाँ भाग

---

(१) कौटिलीय अर्थशास्त्र में राजा का स्वरूप

[ले०—श्री सत्यकेतु विद्यालंकार, काँगड़ी]

भारतीय राजशास्त्र के इतिहास में इस बात की विवेचना सुगमता के साथ नहीं की जा सकती कि विविध राजशास्त्र-प्रणेताओं के विचारों पर उनके समय का—उनकी परिस्थितियों का किस हद तक असर पड़ा है। कारण यह है कि भारतीय इतिहास मे तिथि-क्रम का विषय अभी बहुत विवादग्रस्त है। साथ ही, विविध राजशास्त्र-प्रणेताओं का काल भी अभी पूरी तरह निश्चित नहीं किया जा सका है। आचार्य कौटिल्य के काल के संबंध में ही ऐतिहासिकों में मत-भेद है। अनेक विद्वान् जहाँ इस अर्थशास्त्र को चौथी सदी ई० पू० का बना मानते हैं, वहाँ ऐसे विद्वानों की भी कमी नहीं, जो इसे तीसरी सदी ई० प० या इसके भी बाद का स्वीकार करते हैं।[1] फिर भी कौटि-

---

(१) अर्थशास्त्र के समय के संबंध में निम्नलिखित विद्वानों ने विचार किया है।

R. K. Mukerji—Introduction to the N. N. Law's work on.

लीय अर्थशास्त्र में ऐसी अंत:साक्षियों की कमी नहीं है, जिनसे हम उन परिस्थितियों का कुछ पता लगा सकें, जिनका कि आचार्य चाणक्य के विचारों पर प्रभाव पड़ा था। यह अर्थशास्त्र अपने अंतिम स्वरूप में चाहे किसी समय आया हो, पर इसमें संदेह नहीं कि इसका मुख्य ढाँचा उस समय की अवस्थाओं पर आश्रित है, जब कि भारत में मगध का साम्राज्यवाद विकसित हो रहा था, जब कि अनेक छोटे छोटे राज्य अपनी सत्ता को नष्ट कर एक विशाल साम्राज्य में विलीन हो रहे थे। आचार्य चाणक्य के राजनीतिक विचारों को ठीक ठीक समझने के लिये यह जरूरी है कि हम उन परिस्थितियों का संक्षेप से वर्णन करें जो कि इस अर्थशास्त्र के निर्माण-काल में विद्यमान थीं और जिन्होंने अनिवार्य रूप से इसके विचारों पर प्रभाव डाला था।

प्रो० राधाकुमुद मुकर्जी के अनुसार चाणक्य का समय चौथी सदी ई० पू० में है और तभी यह ग्रंथ बनाया गया है।

प्रो० जॉली के अनुसार अर्थशास्त्र का समय तीसरी सदी ई० प० है। (Jolly—Arthashastra, Preface, p. 29)

प्रो० जॉली की युक्तियों का उत्तर काशीप्रसाद जायसवाल ने दिया है। (K. P. Jayaswal—Hindu Polity, App. c, Pt I, pp. 203-219) डा० भंडारकर ने भी इस प्रश्न पर विचार किया है। (Carmæcal Lectures, p. 110) डा० विन्टरनिट्ज़ ने भी अर्थशास्त्र को तीसरी सदी ई० प० के बाद का माना है। (Winternitz—Kautaliya Arthashastra in "Calcutta Review" for 1924) इनका उत्तर डा० गणपतिशास्त्री ने दिया है। (Ganpatishastri—Arthashastra, vol. iii, Introduction, pp. 2-6.)

आचार्य चाणक्य का समय राजनीतिक साम्राज्यवाद के विकास का समय था। उससे पहले का भारत अनेक छोटे छोटे राज्यों में विभक्त था, जिनमें कि अनेक राज्य राजतंत्र थे और अनेकों में गणतंत्र या संघतंत्र-शासनप्रणालियाँ विद्यमान थीं। ये सभी राज्य प्रायः किसी एक कुल या जाति (Tribe) पर आश्रित थे, इनके आधार कुल थे, इन्हें हम कुलतंत्र राज्य (Tribal states) भी कह सकते हैं।[1] इनमें अनेकविध शासन-प्रणालियाँ विद्यमान थीं और एक ही राज्य में भिन्न भिन्न समयों मे शासन-प्रणाली में परिवर्तन भी होते रहते थे।[2] इनमें परस्पर संघर्ष भी जारी रहते थे और किसी एक राज्य को अपने में सर्व-प्रधान, सार्वभौम या चक्रवर्ती समझने की प्रवृत्ति भी विद्यमान थी। पर इस प्रवृत्ति से विविध राज्यों की सत्ता का अंत न हो जाता था। मगध मे साम्राज्यवाद के विकास के साथ साथ इन विविध राज्यों को एकदम नष्ट किया जाना शुरू हुआ। कुलतंत्र राज्यों (Tribal states) का स्थान प्रादेशिक राज्य (Territorial states) लेने लगे। इस संपूर्ण प्रक्रिया को प्रदर्शित करने में बहुत समय लगेगा, उसकी यहाँ आवश्यकता भी नहीं है। जब कौटिलीय अर्थशास्त्र का निर्माण हुआ, उस समय अपनी अपनी जातियों या कुलों की दृष्टि को

---

(१) पुराने राज्य कुल-तंत्र थे। यथा—यादवाः, कौरवाः, पौरवाः, पांचालाः, मद्राः आदि।

(२) महाभारत के समय में पांचाल मे राजतंत्र शासन था, पर कौटिलीय अर्थशास्त्र में उसका परिगणन राजशब्दोपजीवी संघों में किया गया है। विदेह में रामायण और महाभारत के समय राजतंत्र शासन था, पर बौद्ध साहित्य में उसे गणतंत्र बताया गया है। इसी तरह अन्य अनेक राज्यों के भी उदाहरण दिए जा सकते हैं।

छोड़कर एक विशाल दृष्टि उत्पन्न हो चुकी थी, जिसके द्वारा संपूर्ण भारत में एक राज्य स्थापित करने की कल्पना की जा रही थी। कौटिल्य ने लिखा है—"हिमालय से लेकर समुद्र पर्यंत यदि एक सीधी रेखा खींची जाय, तो एक हजार योजन लंबा जो देश है, जो भूमि है, वह एक चक्रवर्त्ति-क्षेत्र है।[१]" चाणक्य के सम्मुख यह एक हजार योजन तक विस्तृत देश एक आदर्श के रूप मे विद्यमान था, जिसमें कि एक चक्रवर्ती राज्य की स्थापना होनी चाहिए थी। आचार्य चाणक्य का 'विजिगीषु' इसी विशाल देश मे एक साम्राज्य स्थापित करने का प्रयत्न कर रहा था। पर अभी यह स्वप्न क्रियारूप मे परिणत न हुआ था। कौटिलीय अर्थशास्त्र के अध्ययन से मालूम होता है कि अभी भारत मे—इस चक्रवर्त्ति-क्षेत्र में—अनेक गणतंत्र या संघतंत्र तथा अन्य प्रकार के राज्य विद्यमान थे। इन राज्यों के नाम भी अर्थशास्त्र द्वारा ज्ञात होते हैं।[२] कौटिल्य का प्रयत्न यह था कि इन सब राज्यों को नष्ट कर 'एक-राज' की स्थापना की जाय[३] और यदि यह संभव न हो, तो कम से कम इन राज्यों को अधीन तो अवश्य कर लिया जाय।[४]

---

(१) "देशः पृथिवी। तस्यां हिमवत्समुद्रान्तरमुदीचीनं योजनसहस्र-परिमाणं तिर्यक् चक्रवर्त्तिक्षेत्रम्।" (कौ० अर्थ० ६।१)

(२) "काम्बोजसुराष्ट्रक्षत्रियश्रेण्यादयो वार्त्ताशस्त्रोपजीविनः।
लिच्छिविकव्रजिकमल्लकमद्रककुकुरकुरुपांचालादयो राजशब्दोप-जीविनः।" (कौ० अर्थ० ११।१)

(३) "सङ्घेष्वेवमेकराजो वर्तेत।" (कौ० अर्थ० ११।१)

(४) "संघलाभो दण्डमित्रलाभानामुत्तमः।" (कौ० अर्थ० ११।१) इस अधिकरण में प्रदर्शित नीति को ध्यान से पढ़िए।

इस प्रकार कौटिल्य के समय में पुराने छोटे छोटे राज्यों—नगर-राज्यों—का युग समाप्त हो चुका था। इन नगर-राज्यों के अवशेष पर कौटिल्य जिस विशाल राज्य के निर्माण का स्वप्न देख रहा था, उसका आधार कोई एक कुल या जाति न हो सकती थी, उसका आधार एक विस्तृत देश था, जो कि हिमालय से समुद्र तक एक हजार योजन विस्तीर्ण था। यह परिवर्तन बहुत ध्यान देने योग्य है। पुराने कुलतंत्र नगर राज्यों में शासन-प्रणाली चाहे एकतंत्र हो, श्रेणितंत्र हो या गणतंत्र हो, पर राज्य का आधार कुल या जाति (Tribe) होने से जनता के अधिकार अनेक अंशों में सुरक्षित थे। राज्य में भूमि की अपेक्षा जनता का तत्त्व अधिक महत्त्व रखता था। इसी लिये इस जनता, कुल या जाति के परंपरागत अधिकारों को राज्य में ऐसा स्थान प्राप्त था, जिन्हें उल्लंघन करने का किसी श्रेणि या राजा को साहस न हो सकता था। ये परंपरागत अधिकार चाहे वर्तमान अर्थो में राजनीतिक अधिकार न हों, पर इनकी सत्ता अवश्य थी और ये राज्य में विशेष प्रभाव रखते थे। पर अब राज्य का आधार इस जनता, कुल या जाति के स्थान पर देश या भूमि बन रही थी। इस देश या भूमि में एक जनता नहीं, पर अनेक जनताएँ, अनेक जातियाँ और अनेक कुल बसते थे। इसी लिये इस नवीन राज्य में परंपरागत अधिकारों को वह स्थान प्राप्त नहीं हो सकता था, जो पुराने राज्यों में प्राप्त था। राज्य के आधार में परिवर्तन के साथ साथ राज्य के स्वरूप में—राजसंस्थाओं में भी महत्त्वपूर्ण परिवर्त्तन हो रहे थे। कौटिलीय अर्थशास्त्र में इन परिवर्त्तनों की सत्ता स्पष्ट रूप से दृष्टिगोचर होती है।

कौटलीय अर्थशास्त्र के अनुशीलन से जो परिस्थिति हमें प्राप्त होती है, उसमें छोटे छोटे राज्य नष्ट हो चुके हैं या नष्ट हो रहे हैं, पर अभी एक विशाल साम्राज्य का विकास भी पूर्णता तक नहीं पहुँचा है। इसके साथ ही, भिन्न भिन्न स्थानों और भिन्न भिन्न क्षेत्रों के परंपरागत अधिकारों मे भी भारी परिवर्त्तन हो रहा है, कुछ पुरातन अधिकारों को बिलकुल नष्ट कर दिया गया है, कुछ को स्वीकार कर लिया गया है और कुछ में हस्तक्षेप की नीति का प्रारंभ किया गया है। हम यथास्थान अपने इस कथन को विशद रूप से स्पष्ट करने का प्रयत्न करेंगे।

आचार्य चाणक्य के राज्य संबंधी सिद्धांतों का केंद्र राजा है। यद्यपि अर्थशास्त्र में प्राचीन परंपरा के अनुसार राज्य के सात तत्त्व या प्रकृतियाँ स्वीकृत की गई हैं, तथापि चाणक्य ने मुख्यता दो तत्त्वों को ही दी है।[1] राजा और राज्य—इस प्रकार दो तत्त्वों द्वारा ही चाणक्य के मत में कार्य चल सकता है। पुराने आचार्य राज्य में राजा को इतना महत्त्व न देते थे। उनकी सम्मति में स्वामी (राजा), अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोश, दंड और मित्र—इन सात तत्त्वों में पिछले पिछले तत्त्व की प्रधानता थी।[3] स्वामी और अमात्य में अमात्य अधिक महत्त्वपूर्ण था।[4] अमात्य और जनपद में जनपद अधिक महत्त्व-

(१) 'स्वाम्यमात्यजनपददुर्गकोशदण्डमित्राणि प्रकृतयः।'
(कौ० अर्थ० ६। १)

(२) 'राजा राज्यमिति प्रकृति संक्षेपः।' (कौ० अर्थ० ८। २)

(३) कौ० अर्थ० ८। १।

(४) 'स्वाम्यमात्यजनपददुर्गकोशदण्डमित्रव्यसनानां पूर्वं पूर्वं गरीय इत्याचार्याः। नेति भारद्वाजः। स्वाम्यमात्यव्यसनयोरमात्यव्यसनं गरीय इति।' (कौ० अर्थ० ८।१)

पूर्ण था।[1] और इसी प्रकार पिछले पिछले तत्त्व अधिक अधिक महत्त्व रखते थे। इस तरह पुराने आचार्यों के मत में राज्य में राजा का महत्त्व सबसे कम था। यह होना बहुत स्वाभाविक भी है, क्योंकि पुराने कुलतंत्र नगर-राज्यों में राज्य का आधार संपूर्ण जनता होती थी, उनमें राजा का बहुत महत्त्व न हो सकता था। पर अब जो नए विशाल राज्य बन रहे थे, उनका आधार प्रदेश था, वह एक 'विजिगीषु' राजा की कृति थी। यद्यपि परिस्थितियाँ और ऐतिहासिक प्रवाह इस प्रक्रिया में सहायक थे, तथापि इन साम्राज्यों का निर्माण एक 'विजिगीषु' राजा की प्रतिभा पर आश्रित था। इसी लिये आचार्य चाणक्य के मत में राज्य के सब तत्त्वों में राजा सर्वप्रधान था।[2] यदि राजा ठीक हो, तो अन्य सब तत्त्व सँभल सकते थे। पर यदि राजा ही ठीक न हो, तो राज्य का चल सकना संभव न था। इसी लिये आचार्य चाणक्य ने राजा को सुमार्ग-गामी बनाए रखने के लिये तथा 'राज्य' जैसे महत्त्वपूर्ण तत्त्व का एक क्षण भर के लिये भी अभाव न होने देने के लिये इतना जोर दिया है। कौटिलीय अर्थशास्त्र के सब राज्य संबंधी सिद्धांत इस 'राजा' के चारों ओर ही घूमते हैं। कौटिल्य का राज्य

(१) 'अमात्यजनपदव्यसनयोर्जनपदव्यसनं गरीय'। इति विशालाक्षः।
(कौ० अर्थ० ८।१)

(२) कौ० अर्थ० ८। १।

कौटिल्य ने इस अध्याय में यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि राज्य के सातों तत्त्वों में राजा सर्वप्रधान है, राजा की आपत्ति अन्य सब तत्त्वों की आपत्ति की अपेक्षा अधिक भयानक है। दो दो तत्त्वों की तुलना कर पहले पहले तत्त्व की महत्ता प्रदर्शित की गई है।

संबंधी आदर्श यही है, कि 'एक-राजत्व' या 'एकैश्वर्य'[1] की स्थापना की जाय। राजा के अभाव में कौटिल्य के राज्य का आदर्श तो दूर रहा, राज्य का ढाँचा भी कायम नहीं रह सकता। कौटिल्य के सभी राज्यसंबंधी विचारों के मूल में राजा का यह ऊँचा महत्त्वपूर्ण स्थान कार्य करता हुआ दृष्टि-गोचर होता है।

'राजा' की उत्पत्ति किस प्रकार हुई, इस विषय में अपने सिद्धांत का आचार्य चाणक्य ने कहीं स्पष्ट रूप से वर्णन नहीं किया। परंतु सर्व साधारण जनता में राजा की उत्पत्ति के उसी सिद्धांत को प्रचारित करने का निर्देश किया गया है, जो कि प्राचीन भारतीय राजशास्त्रों मे अनेक स्थानों पर उपलब्ध होता है।[2]

जिस प्रकरण में यह सिद्धांत उपलब्ध होता है, उसमें आचार्य चाणक्य ने उन उपायों का उल्लेख किया है, जिनके द्वारा अपने देश में राजा के प्रति जनता की अनुकूलता स्थापित की जा सकती है। "गुप्तचरों को चाहिए कि परस्पर विरोधी दल बनाकर तीर्थ, सभाशाला, पूरा और जन-समवाय में जाकर आपस में इस प्रकार विवाद करें। एक दल कहे—'सुना तो यह जाता है कि यह राजा सर्व-गुण-संपन्न है; पर हमें तो इसमें कोई गुण नजर नहीं आता। यह तो खाली पौरों और जानपदों को दंड और कर द्वारा सताता ही है।' उन स्थानों पर जो लोग इस बात का समर्थन करें, उन्हें तथा

---

(१) कौ० अर्थ० ९।६।

(२) समयवाद तथा अन्य सिद्धांतों के लिये देखिए 'भारतीय राजशास्त्र' अध्याय २।

उस गुप्तचर को इस प्रकार दूसरा दल समझावे—'पहले मात्स्य-न्याय प्रचलित था। उससे दिक आकर जनता ने वैवस्वत मनु को राजा बनाया था। अपनी उपज में से, धान्य का छठा भाग, व्यापारीय वस्तुओं का दसवाँ भाग तथा सुवर्ण उस राजा के लिये भाग निश्चित किया गया। इस भाग को भृति या वेतनरूप में पाकर राजा जनता के योग और क्षेम का संपादन करने मे समर्थ हुए। जो राजा ठीक प्रकार से दंड की व्यवस्था नहीं करता और कर वसूल नहीं करता, वह जनता का योग और क्षेम संपादन नहीं कर सकता। जनता का सब पाप ऐसे राजा को लग जाता है। यही कारण है कि जंगल मे रहनेवाले तपस्वी लोग भी अपने संचित अन्न (उंछ) का छठा भाग राजा को यह सोचकर प्रदान करते हैं कि 'यह उसका हिस्सा है, जो हमारी रक्षा करता है।' राजा का वह स्थान है, जो कि इंद्र और यम का है। इनका कोप और प्रसन्नता तो प्रत्यक्ष ही होते हैं। जो राजाओं का अपमान करते हैं, उन्हें तो ईश्वर की ओर से भी दंड मिलता है। अतः राजाओं का अपमान नहीं करना चाहिए।' इस प्रकार गुप्तचर लोग मामूली जनता को समझाकर राजा के अनुकूल करें।"[1]

आचार्य चाणक्य के राजा की उत्पत्ति संबंधी इस मत को स्पष्ट करने की कोई आवश्यकता नहीं है। यह पर्याप्त स्पष्ट है। पर इसमें एक बात ध्यान देने योग्य है। चाणक्य यह अनुभव करते हैं कि इस सिद्धांत द्वारा केवल मामूली आदमियों को—इनके लिये चाणक्य ने स्वयं 'क्षुद्रक' शब्द

(१) कौ० अर्थ० १। १३।

का प्रयोग किया है—ही समझाया जा सकता है। भारतीय राज-शास्त्र प्रणेताओं का यह प्राचीन प्रचलित मत पुराने कुल-तंत्र राज्यों के लिये तो ठीक समझा जा सकता था। वस्तुत: पहले कभी जनता में मात्स्य-न्याय प्रचलित था या नहीं, वस्तुत: लोगों ने मिलकर किसी एक व्यक्ति को राजा बनाया था या नहीं—इस बात पर विचार करने की कोई आवश्यकता नहीं। इस समयवाद के सिद्धांत का मूल तत्त्व तो यह है कि राजा की सत्ता प्रजा या जनता की अनुमति तथा स्वीकृति पर आश्रित है। जनता राजा को यदि स्वयं नहीं चुनती, तो उसे स्वीकृत अवश्य करती है। पुराने कुल-तंत्र राज्यों में वस्तुत: यही सिद्धांत विद्यमान था। वैदिक काल में जनता राजा को स्वीकार किया करती थी, उसके चुनाव में अनुमति दिया करती थी।[१] ब्राह्मणकाल में भी यही प्रथा विद्यमान थी।[२] रामायण के समय मे भी जनता राजा को स्वीकृत किया करती थी।[३] यही परंपरा किसी न किसी रूप में भारत के उन सभी राज्यों में विद्यमान रही, जिनका आधार कुल, श्रेणि या जनता होती थी।[४] पर कौटिल्य के जिस 'विजिगीषु' राजा ने समुद्र से लेकर हिमालय तक एक हजार योजन विस्तृत प्रदेश पर अपना 'एकराज' या 'एकैश्वर्य' शासन स्थापित करने

(१) ऋग्वेद १० । १७८, १० । १७३ । ६ ।
अथर्ववेद ८ । ८७—८८; ३ । ५; ३ । ४; ४ । ८ ।

(२) K. P. Jayaswal—Hindu Polity, Part II, pp 14-41.

(३) वाल्मीकीय रामायण २,१४ ।

(४) K. P. Jayaswal—Hindu Polity, Part II, pp. 42-59.

का प्रयत्न किया था, उसके लिये क्या यह सिद्धांत किसी भी तरह लागू हो सकता था? उसके सिंहासनारूढ़ होने में जनता की अनुमति या स्वीकृति को किसी भी प्रकार से स्थान प्राप्त नहीं था। उसकी सत्ता का आधार तो उसकी अपनी शक्ति के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं था। इसलिये आचार्य चाणक्य यह खूब समझते थे कि प्राचीन समयवाद का सिद्धांत उनके 'राजा' पर नहीं लग सकता। पर यदि मामूली आदमियों को—क्षुद्रकों को—बहकाया जा सके, उन्हें राजभक्त बनाया जा सके, तो इसमें हानि भी क्या है? गुप्तचरों द्वारा इसी लिये यह कार्य करने का आदेश किया गया है।

एक अन्य स्थान पर भी आचार्य चाणक्य ने राजशास्त्र-वेत्ताओं के इसी ढंग के उदात्त सिद्धांत का अपने उद्देश्य के लिये प्रयोग किया है। "संग्राम शुरू होने से पूर्व राजा को चाहिए कि अपने सैनिकों को एकत्र कर उनके सम्मुख इस प्रकार भाषण दे—'जैसे आप लोगों को वेतन मिलता है, वैसे ही मुझे भी मिलता है। इस राज्य का उपभोग मुझे आप लोगों के साथ मिलकर ही करना है। इसलिये जैसे मैं कहूँ, उसके अनुसार ही शत्रुओं पर आक्रमण करो'।"[1] चाणक्य को सभी उपायों से अपने विजिगीषु राजा का हित-संपादन करना था। वह जहाँ जनता के अंध विश्वासों का राजा के

---

(१) "संहत्य दण्डं ब्रूयात्—'तुल्यवेतनोऽस्मि; भवद्भिस्सह भोग्यमिदं राज्यं मयाऽभिहितः परोऽभिहन्तव्यः।' इति"

(कौ० अर्थ० १०।३)

हितों के लिये उपयोग कर रहा था[1], वहाँ यदि जनता में पुराने प्रचलित उदात्त विचारों का भी उपयोग करे, तो इसमें आश्चर्य की क्या बात है। पर ये चाणक्य के अपने सिद्धांत नहीं हैं। वह अपने विजिगीषु राजा को जनता का नौकर, भाग-हर या भृत्य नहीं बनाना चाहता था। वह तो अपने राजा में एक ऐसे व्यक्ति की कल्पना करता था, जो 'एकराज' हो, जिसका 'एकैश्वर्य' स्थापित हो।

तो फिर आचार्य चाणक्य की दृष्टि में राजा का क्या स्वरूप था? आचार्य चाणक्य की दृष्टि में राज्य में राजा का स्थान सबसे ऊपर था, क्योंकि वह "राजा ही है, जो मंत्री पुरोहित आदि राजकर्मचारियों को नियत करता है, जो राज्य के भिन्न भिन्न विभागों के अध्यक्ष नियत करता है, और जो उन सब आपत्तियों को दूर करता है जो कि जनता पर या देश पर आती हैं। राज्य की वृद्धि के सब उपाय राजा द्वारा ही तो किए जाते हैं। जब अमात्य आपत्ति में फँस जाते हैं या कार्य-समर्थ नहीं रहते, तब राजा ही दूसरे अमात्य नियत करता है। वह राजा ही है, जो सम्मान योग्य मनुष्यों का सम्मान करता है और दोषयुक्त मनुष्यों का नियंत्रण करता है।"[2] इतना ही नहीं, "यदि राजा संपन्न है, तो वह जनता को या राज्य के अन्य

(१) उदाहरण के लिये—"ज्योतिषी तथा शकुन विचारनेवाले यह फैलाकर सैनिकों को उत्साहित करें कि, 'राजा तो सर्वज्ञ है। दैव राजा के अनुकूल है।' इसी तरह की बातों से शत्रुओं में आतंक फैलावे"। इसी तरह—सूत और मागध लोग योधाओं की जाति, कुल आदि की खूब प्रशंसा करें, ताकि उनमें उत्साह आवे। पुरोहित के आदमी कहें, हमने जो अभिचार क्रियाएँ की थीं, वे सफल हो गई हैं। मुहूर्त बतानेवाले लोग भी इसी ढंग से प्रचार करें। (कौ० अर्थ० १०।३)

(२) कौ० अर्थ० ८।१।

सब तत्त्वों को भी संपत्ति से युक्त कर देता है। राजा का जो शील होता है, वही शील प्रजा का भी हो जाता है, क्योंकि जनता का उत्थान और पतन तो पूरी तरह राजा पर ही आश्रित है।"[1] अतः निष्कर्ष यह निकला कि "राज्य में राजा ही कूटस्थानीय है।"[2] अन्य सब प्रकृतियाँ या राज्य के तत्त्व तो गौण हैं, मुख्य प्रकृति या मुख्य राजकीय तत्त्व राजा ही है।

इसी सिद्धांत को आचार्य चाणक्य ने अनेक स्थानों पर स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है—"यदि राजा जनता के योग और क्षेम मे प्रमाद करे, आलस्य करे, तो जनता में लोभ की प्रवृत्ति होने लगती है, जनता मे वैराग्य या उपेक्षा का भाव आने लगता है—जनता का विनाश हो जाता है।"[3]

"यदि राजा आत्मवान् हो, समर्थ हो, तो राज्य के अन्य तत्त्वों—प्रकृतियों को चाहे वे असंपन्न क्यों न हों, संपन्न कर देता है। पर यदि राजा ही अनात्मवान्—असमर्थ हो, तो चाहे अन्य तत्त्व कितने ही उन्नत हो, प्रकृति कितनी ही राजा मे अनुरक्त हो, पर उनका विनाश हो जाता है।"[4]

ये उद्धरण स्पष्ट करते हैं कि आचार्य चाणक्य के मत मे संपूर्ण राज्य मे सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व राजा ही है। अन्य सब तत्त्व उस पर आश्रित हैं। यदि राजा समर्थ नहीं,

---

(१) 'स्वामी च संपन्नः स्वसम्पद्भिः प्रकृतिः संपादयति। स्वयं यच्छीलस्तच्छीलाः प्रकृतयो भवंति। उत्थाने प्रमादे च तदायत्तत्वात्।
(कौ० अर्थ० ८। १)

(२) 'तत्कूटस्थानीयो हि स्वामीति।' (कौ० अर्थ० ८। १)

(३) 'राज्ञः प्रमादालस्याभ्यां योगक्षेमविधावपि।
प्रकृतीनां क्षयो लाभो वैराग्यं चोपजायते॥'(कौ० अर्थ० ७।५)

(४) 'सम्पादयत्यसम्पन्नाः प्रकृतीरात्मवान् नृपः।
विवृद्धाश्चानुरक्ताश्च प्रकृती हन्त्यनात्मवान्॥'(कौ० अर्थ० ६।१

तो अन्य तत्त्व कितने ही उन्नत क्यों न हों, व्यर्थ हैं, उनका विनाश अवश्यंभावी है। पर यदि राजा समर्थ है, तो इस बात की कोई चिंता नहीं, कि अन्य तत्त्व उन्नत नहीं हैं। राजा के कारण ही वे स्वयं उन्नत हो जायँगे। इस प्रकार आचार्य चाणक्य ने अपने 'चातुरन्त' साम्राज्य का आधार राजा को बनाने का प्रयत्न किया है। यही कारण है कि इस राजा को पूर्ण मनुष्य बनाने के लिये अनेकविध उपायों का उपदेश किया गया है। आचार्य चाणक्य का 'राजा' कोई मामूली आदमी नहीं हो सकता था, उसके लिये असाधारण शक्ति, अद्वितीय विनय (training) और आदर्श शिक्षा की आवश्यकता थी। चाणक्य अपने चातुरन्त साम्राज्य के स्वप्न को पूर्ण करने की आशा किसी साधारण व्यक्ति से नहीं रख सकता था। उसके लिये जो 'एकराज' अभीष्ट था, वह असाधारण मनुष्य होना चाहिए था। कौटिल्य ने स्वयं अपने आदर्श 'राजा' का वर्णन किया है। वह कहता है—

राजा के गुण निम्नलिखित होने चाहिएँ—"वह बहुत ऊँचे कुल का हो, सौभाग्यशाली हो, अत्यंत बुद्धिमान् हो, विशाल दृष्टि से युक्त हो, धार्मिक हो, सत्य बोलनेवाला हो, वाणी और काम में एक हो, कृतज्ञ हो, सदा ऊँचे लक्ष्य को सम्मुख रखनेवाला हो, अत्यंत उत्साहसंपन्न हो, दीर्घसूत्री न हो (शीघ्र काम करनेवाला हो), सामंतों को वश में रखने में समर्थ हो, अपने निश्चय में दृढ़ रहनेवाला हो, उसकी परिषद् छोटी न हो, वह विनय (नियंत्रण) में रहने की इच्छावाला हो।"[1]

---

(१) कौ० अर्थ० ६। १।

इनके अतिरिक्त आठ गुण और हैं, जो राजा में होने चाहिएँ। जिस राजा की प्रज्ञा या बुद्धि इन गुणों से युक्त होगी, वही आदर्श राजा होगा—शुश्रूषा--जानने की इच्छा, श्रवण—दूसरों के विचारों को सुनना, ग्रहण—लेने योग्य बात को ले लेना, धारण--ग्रहण की हुई बात को भुला न देना, विज्ञान—प्रत्येक बात को ठीक तरह समझ लेना, ऊह—समझी हुई बात के गुणदोषों पर सम्यक् विचार, अपोह—जो बात दोषयुक्त मालूम पड़े उसका परित्याग कर देना, तत्त्वाभिनिवेश—जो बात ठीक मालूम पड़े उस सारभूत बात को स्वीकार कर लेना।[1]

कौटिल्य को अपने आदर्श राजा का इस प्रकार स्वरूपवर्णन करने से ही संतुष्टि नहीं हुई, जिस व्यक्ति को चातुरन्त साम्राज्य पर शासन करना हो, जिसके समर्थ होने से अन्य सब राजकीय तत्त्वों का स्वयं समर्थन हो जाता हो, उसके स्वरूप को और अधिक विस्तार से स्पष्ट करना चाहिए—

"राजा को वाग्मी होना चाहिए। उसकी बुद्धि बहुत उन्नत होनी चाहिए। उसकी स्मृति बहुत तेज होनी चाहिए। उसका मन अत्यंत दृढ़ होना चाहिए। उसे बलवान्, उन्नत-चेता और संयमी होना चाहिए। उसे सब शिल्पों में निपुण होना चाहिए। शत्रु पर जब कोई दैवी या मानुषी आपत्ति आवे, तब उसे अपनी सेना द्वारा आक्रमण के लिये तैयार होना चाहिए और जब अपने राज्य पर आपत्ति आवे तब उसकी रक्षा में समर्थ होना चाहिए। उसे उपकार के बदले में उपकार और अपकार के बदले में अपकार करनेवाला

(१) कौ० अर्थ० ६।१।

होना चाहिए। उसे लज्जावान् होना चाहिए। उसे आपत्ति के प्रतीकार में समर्थ और उत्तम दशा का लाभ उठानेवाला होना चाहिए। उसे दूरदर्शी तथा विशाल दृष्टिवाला होना चाहिए। उसे देश और काल से लाभ उठानेवाला, पुरुषार्थी और कर्मवीर होना चाहिए। उसे संधि के प्रयोग में कुशल, युद्धनीति में निपुण, देश काल और व्यक्ति के अनुसार दान में समर्थ, संयमी और शत्रु के दोषों से लाभ उठा सकनेवाला होना चाहिए। उसका मंत्र (सलाह) बिलकुल गुप्त रहना चाहिए। उसकी हँसी तथा भ्रूभंगी आदि में गंभीरता होनी चाहिए। उसे काम, क्रोध, लोभ, जिद, चपलता, जल्दबाजी और चुगली से रहित होना चाहिए। उसे दूसरों से मुस-कराकर बोलना चाहिए तथा पुरानी चली आई परंपराओं और रीति रिवाजों को जानकर उनके अनुसार कार्य करनेवाला होना चाहिए।"

इस प्रकार आचार्य चाणक्य ने अपने विजिगीषु चातुरन्त राजा का आदर्श चित्र खींचने का प्रयत्न किया है। निस्संदेह, जिस राज्य का आधार एक राजा हो, उसमें उस राजा के व्यक्तित्व की महत्ता बहुत अधिक है। उसी को संपूर्ण राज्य का संचालन करना है, राज्य के विविध अंग उसी के अधीन

(१) 'वाग्मी प्रज्ञाप्रगल्भः स्मृतिमतिबलवानुदग्रः कृतशिल्पो व्यसने दण्डनाय्युपकारापकारयोर्दृष्टप्रतिकारी ह्रीमान् आपत्प्रकृत्योर्विनियोक्ता दीर्घदूरदर्शी देशकालपुरुषकारकार्यप्रधानः सन्धिविक्रमत्यागसंयमपणपरच्छिद्रविभागी संवृतादीनाभिहास्यजिह्मभ्रु कुटीचणः कामक्रोधलोभस्तम्भचापलोपतापपैशुन्यहीनः शक्यस्मितोदग्राभिभाषी वृद्धोपदेशाचार इति।'

(कौ० अर्थ० ६।१)

हैं, अतः उसका पूर्ण मनुष्य होना अवश्यंभावी है। पर यह 'पूर्णता' किस प्रकार प्राप्त की जाय? कौटिलीय अर्थशास्त्र में इसका प्रतिपादन भी विस्तार से किया गया है।

राजा को ऐसी शिक्षा दी जानी चाहिए, जिससे वह पूर्ण मनुष्य बन सके। विनय या शिक्षण दो प्रकार का होता है, स्वाभाविक और कृतक।[1] अपने प्रयत्न से भी मनुष्य को सिखाया जा सकता है, पर प्रयत्न भी वही सफल होता है, जहाँ पहले से मनुष्य में कुछ क्षमता भी हो। क्रिया पात्र में ही सफल होती है, अपात्र में नहीं।[2] अतः आदर्श राज्य के लिये प्रयत्न द्वारा उसी मनुष्य को तैयार किया जा सकता है, जो स्वयं भी कुछ सामर्थ्य रखता हो, जो वस्तुतः पात्र हो। इसलिये स्वाभाविक रूप से ही होनहार आदमी को उत्तम से उत्तम शिक्षा दी जानी चाहिए। त्रयी और आन्वीक्षकी का अध्ययन इनके पारंगत विद्वानों द्वारा कराया जाय। वार्ता (कृषि, पशुपालन और वाणिज्य[3]) भिन्न भिन्न राजकीय विभागों के अध्यक्षों द्वारा सीखी जाय। और दंडनीति का अध्ययन ऐसे व्यक्तियों द्वारा कराया जाय, जो वक्ता और प्रयोक्ता—दोनों प्रकार के हों।[4] अभिप्राय यह है कि भिन्न भिन्न विद्याओं के प्रामाणिक विद्वानों द्वारा उनका विचारात्मक और क्रियात्मक—उभयविध ज्ञान प्राप्त कराया जाय। अपनी शिक्षा के लिये प्रतिदिन ऐसे विद्वानों का संग किया जाय,

(१) 'कृतकस्स्वाभाविकश्च विनयः॥' (कौ० अर्थ० १।५)
(२) 'क्रिया हि द्रव्यं विनयति नाद्रव्यम्।' (कौ० अर्थ० १।५)
(३) 'कृषिपशुपाल्ये वणिज्या च वार्ता।' (कौ० अर्थ० १।४)
(४) 'त्रयीमान्वीक्षकीं च शिष्टेभ्यः, वार्तामध्यक्षेभ्यः, दण्डनीतिं वक्तृप्रयोक्तृभ्यः।' (कौ० अर्थ० १।५)

जो विद्यावृद्ध हों, क्योंकि विनय या शिक्षण विद्वानों के संग से ही हो सकता है।[१] इस प्रकार विद्या-प्राप्ति १६ वर्ष तक ब्रह्मचर्य व्रत का पालन करते हुए की जाय।[२]

परंतु केवल विद्या-प्राप्ति से शिक्षा पूर्ण नहीं हो सकती। कौटिल्य के आदर्शपूर्ण मनुष्य के लिये यह आवश्यक है कि उसने काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष का त्याग कर इंद्रियों पर पूर्णतया विजय प्राप्त की हुई है। विद्या-प्राप्ति के लिये भी इस इंद्रिय-जय की अनिवार्य रूप से आवश्यकता है।[३] सब के सब शास्त्र ही इस बात का प्रतिपादन नहीं करते। अपितु इतिहास का अनुभव भी यही बताता है कि इंद्रियों पर विजय प्राप्त किए बिना किसी भी तरह सफलता प्राप्त नहीं हो सकती। राजा चाहे कितना ही शक्तिशाली और विद्वान् क्यों न हो, उसका राज्य कितना भी विस्तृत क्यों न हो, पर यदि इंद्रियाँ उसके वश में नहीं हैं, तो वह नष्ट होने से बच नहीं सकता।[४] आचार्य चाणक्य ने अपने इस पक्ष को पुष्ट करने के लिये बहुत से प्राचीन उदाहरण दिए हैं और अंत में परिणाम निकाला है कि "ये तथा अन्य बहुत से राजा काम क्रोधादि ६ शत्रुओं के वशीभूत होने के कारण इंद्रियों को

---

(१) 'अस्य नित्यश्च विद्यावृद्धसंयोगो विनयवृध्यर्थम्, तन्मूलत्वाद्विनयस्य।' (कौ० अर्थ० १। ५)

(२) 'ब्रह्मचर्यं चाषोडशाद्वर्षात्।' (कौ० अर्थ० १। ५)

(३) 'विद्याविनयहेतुरिन्द्रियजयः कामक्रोधलोभमानमदहर्षत्यागात्कार्यः।' (कौ० अर्थ० १। ६)

(४) 'कृत्स्नं हि शास्त्रमिदमिन्द्रियजयः। तद्विरुद्धवृत्तिरवश्येन्द्रियः चातुरन्तोऽपि राजा सद्यो विनश्यति।' (कौ० अर्थ० १। ६)

अपने वश में न कर सकने के कारण अपने बंधुओं तथा राष्ट्र के साथ विनष्ट हो गए"।[1]

इस प्रकार पूर्ण मनुष्य बनने के लिये विद्याओं का अध्ययन करना, विद्या-विनीत होना और इंद्रियों पर पूरा अधिकार रखना नितांत आवश्यक है। पर राजा के लिये इतने से भी काम नहीं चल सकता। उसे जिस महत्त्वपूर्ण कार्य का संपादन करना है, उसके लिये अधिक क्षमता तथा प्रयत्न की आवश्यकता है। आदर्श राजा अपना कार्य किस ढंग से चलायगा, किस प्रकार अपना जीवन व्यतीत करेगा, इसे कौटिल्य के शब्दों में ही उद्धृत करना अधिक उत्तम रहेगा—"काम, क्रोध आदि छओं शत्रुओं को परास्त कर इंद्रियों पर विजय प्राप्त करे। वृद्ध लोगों के संग द्वारा बुद्धि का विकास करे। गुप्तचरों द्वारा संपूर्ण विषयों पर दृष्टि रखे। कार्य-शील होकर निरंतर प्रयत्नशील रहकर योग और क्षेम का संपादन करे। जनता को 'स्वधर्म' में कायम रखे। विद्या के उपदेश श्रवण करके अपना शिक्षण निरंतर करता रहे। देश की संपत्ति तथा समृद्धि बढ़ाकर लोक-प्रिय बनने का प्रयत्न करे। दूसरों का हित करने में ही अपनी वृत्ति रखे।"[2]

इसी प्रकार "दूसरों की स्त्रियों तथा संपत्ति को कोई भी क्षति न पहुँचावे। स्वप्न में भी भोग विलास का खयाल न करे। झूठ से बचे। अपने वेष में—रहन सहन में—उद्धत

---

(१) 'एते चान्ये च बहवः शत्रुषड्वर्गमाश्रिताः।
सबंधुराष्ट्रा राजानो विनेशुरजितेन्द्रियाः॥'

(कौ० अर्थ० १।६)

(२) कौ० अर्थ० १।७।

न हो। अनर्थकारी कामों से बचे। ऐसे कोई व्यवहार न करे, जो धर्मविरुद्ध हों या जिनमें अनर्थ की संभावना हो। अपनी उन्हीं कामनाओं को पूर्ण करने का प्रयत्न करे, जो धर्म और अर्थ के विरुद्ध न हों"।[१] पर इसका यह अभिप्राय नहीं कि कष्ट में अपने जीवन को व्यतीत करे। कष्ट से सदा बचे, कभी दुखी न हो। अपने को सदा सुखी रखे। धर्म, अर्थ और काम—तीनों को समान रूप से सेवन करे, तीनों में समतुलन रखे। इन तीनों मे से यदि किसी एक का भी अधिक सेवन किया जाता है, तो केवल शेष दोनों को ही नुकसान नहीं पहुँचता पर अपने को भी हानि पहुँचती है। कारण यह कि धर्म, अर्थ और काम—ये तीनों ही आपस में एक दूसरे पर आश्रित हैं, स्वतंत्र नहीं हैं।[२]

इसमें कोई संदेह नहीं कि यदि कोई मनुष्य आचार्य चाणक्य द्वारा उपदिष्ट उपर्युक्त मार्ग का अवलंबन कर सके, तो वह पूर्णता प्राप्त कर सकता है। आचार्य चाणक्य यही चाहता था कि उसका आदर्श विजिगीषु राजा जीवन में इतनी उच्चता और पूर्णता प्राप्त कर सके। पर साथ ही, वह यह भी अनुभव करता था कि क्रियात्मक दृष्टि से कोई भी व्यक्ति संभवतः इतनी पूर्णता प्राप्त न कर सकेगा। इसी लिये उसने आवश्यकता समझी थी कि मर्यादा स्थापित करने का कोई दूसरा उपाय भी अवश्यंभावी है। जहाँ एक तरफ राजा को पूर्ण आदर्श मनुष्य बनाने का प्रयत्न किया जाय, वहाँ

---

(१) कौ० अर्थ० १। ७।

(२) 'धर्मार्थाविरोधेन कामं सेवेत। न निःसुखः स्यात्। समं वा त्रिवर्गमन्योन्यानुबन्धम्। एको ह्यत्यासेवितो धर्मार्थकामानामात्मनमितरौ च पीडयति। (कौ० अर्थ० १। ७)

दूसरी तरफ इस बात का भी विधान किया जाय कि यदि राजा भूल करे, तो उसे सावधान किया जा सके; यदि वह मार्ग-च्युत होने लगे, तो उसे सन्मार्ग पर लाया जा सके। यह कार्य या तो आचार्य कर सकता था और या अमात्य-वर्ग।[1]

राजा को सन्मार्ग पर कायम रखने में आचार्य या पुरोहित का बहुत महत्त्व है। राजा चाहे कितना ही पूर्ण और आदर्श मनुष्य क्यों न हो, पर उससे भूल हो सकती है। अतः राजा की सहायता के लिये एक ऐसा व्यक्ति अवश्य होना चाहिए, जो उसे भूलों से सावधान करता रहे। यह महत्त्वपूर्ण कार्य पुरोहित द्वारा किया जा सकता है। इसलिये चाणक्य ने विधान किया है कि एक ऐसे व्यक्ति को पुरोहित के पद पर नियत किया जाय, जो उच्च कुल का हो, उन्नत आचारवाला हो, षडङ्ग वेद, दैव-विद्या, निमित्त-विद्या और दंडनीति में पारंगत हो, दैव और मनुष्य-कृत विपत्तियों का प्रतिकार आथर्वण उपायों से करने में समर्थ हो।[2] "जैसे आचार्य के पीछे शिष्य, पिता के पीछे पुत्र और स्वामी के पीछे भृत्य चलता है, उसी प्रकार इस पुरोहित के कहने के पीछे राजा चले।"[3]

चाणक्य के इन वाक्यों का यह अभिप्राय समझा जा सकता है कि उसके विचारों पर प्राचीन ब्राह्मण-प्रभुता का प्रभाव विद्यमान था। प्राचीनतम काल के बहुत से नगर-राज्यों

---

(१) कौ० अर्थ० १। ७।

(२) कौ० अर्थ० १। ९।

(३) 'तमाचार्य्यं शिष्यः पितरं पुत्रो भृत्यस्स्वामिनमिव चानुवर्तेत।'
(कौ० अर्थ० १। ९)

में ब्राह्मण जाति या पुरोहितश्रेणी प्रधान थी। ब्राह्मण राज्य के सब नियमों या विधानों से ऊपर थे। इन राज्यों में राजा के अतिरिक्त पुरोहित की बहुत मुख्यता थी और राज्य का रक्षक पुरोहित को ही समझा जाता था।[१] पर कौटिल्य के विचार में पुरोहित को यह प्रमुख स्थान प्राप्त नहीं था। उसे दंड भी दिया जा सकता था। वह दंड से ऊपर नहीं था। अर्थशास्त्र में लिखा है कि "यदि कोई पुरोहित आज्ञा देने पर अछूत को वेद न पढ़ाय या अछूत का यज्ञ कराने से इन्कार करे, तो उसको पद-च्युत कर दे।"[२] यदि पुरोहित को इस प्रकार आज्ञा दी जा सकती थी या इस ढंग से वह पदच्युत किया जा सकता था, तो निस्संदेह वह राजा के ऊपर नहीं था। कौटिल्य ने पुरोहित की यह महिमा या तो प्राचीन परंपरा के प्रवाह में आकर लिख दी है और या सम्राट् चंद्रगुप्त और अपनी स्थिति को सम्मुख रखकर ही यह बात लिखी गई है। चाणक्य चंद्रगुप्त का प्रधान मंत्री और पुरोहित दोनों था। विशाखदत्त के शब्दों में सम्राट् चंद्रगुप्त 'सचिवायत्तसिद्धि' था।[३] इसमे संदेह नहीं कि चंद्रगुप्त चाणक्य द्वारा निर्दिष्ट पथ का उसी प्रकार अनुसरण करता था, जैसे शिष्य आचार्य का, भृत्य स्वामी का या पुत्र पिता का करता है। पर चाणक्य के राजनीतिक विचारों में राजा की स्थिति पुरोहित के इस तरह अधीन न थी। अन्यथा, पुरोहित

---

(१) ऐतरेय ब्राह्मण ८। २५।

(२) 'पुरोहितमयाज्ययाजनाध्यापने नियुक्तममृष्यमाणं राजा अवक्षिपेत्।' (कौ० अर्थ० १। १०)

(३) विशाखदत्त—मुद्राराक्षस, अंक ३।

को दंड देने का कुछ अभिप्राय नहीं हो सकता है। फिर, पुरोहित अष्टादश तीर्थों में अन्यतम है और राजा को इन तीर्थों पर अपने गुप्तचरों द्वारा कड़ी निगाह रखनी है।[१] राजा ही इन तीर्थों को नियत करता है।[२] इस प्रकार यह स्पष्ट है कि चाणक्य के राजशास्त्र में पुरोहित की स्थिति राजा से ऊपर नहीं है। राज्य के संपूर्ण शासन-सूत्र राजा के अधीन हैं। राजा ही राज्य का वास्तविक स्वामी तथा संचालक है और इस महत्त्वपूर्ण कार्य के संपादन के लिये यह आवश्यक है कि वह पूर्ण तथा आदर्श मनुष्य हो। पर फिर भी उससे भूलें हो सकती हैं। अतः किसी ऐसे व्यक्ति की आवश्यकता है, जो उसे इन भूलों से सावधान करता रहे। यह व्यक्ति पुरोहित है।

पुरोहित के अतिरिक्त शासन मे राजा की सहायता के लिये अमात्य भी होने चाहिएँ। अमात्य राजा को सलाह भी देंगे और शासन-कार्य मे उसका हाथ भी बटायँगे। राजकीय कार्य या राजवृत्ति तीन प्रकार की होती है—प्रत्यक्ष, परोक्ष और अनुमेय. राजा जिन बातों को स्वयं देखे, वे प्रत्यक्ष हैं। दूसरों से पूछकर जिन बातों को किया जाय, वे परोक्ष हैं। किए हुए कार्य से न किए हुए कार्य का अनुमान करके जिन कार्यों को किया जाय, वे अनुमेय हैं। अब इस त्रिविध राजवृत्ति में 'परोक्ष' अमात्यों द्वारा संपन्न होता है। ये परोक्ष कार्य क्यों होते हैं और अमात्यों द्वारा इन्हें कराने की क्यों आवश्यकता होती है, इस बात को चाणक्य ने इस प्रकार स्पष्ट किया है—"सब काम एक साथ तो होते नहीं, फिर

(१) कौ० अर्थ० १। १२।
(२) कौ० अर्थ० ८। १।

कर्म होते भी अनेक हैं और वे अनेक स्थानों पर होते हैं, अतः यदि राजा स्वयं ही सब कार्यों को करने लगे तो उचित समय और उपयुक्त स्थान का उल्लंघन (अत्यय) हो जायगा, अतः इन परोक्ष कार्यों को अमात्यों द्वारा कराया जाय।"[1] अब यदि वस्तुतः कोई ऐसा उपाय हो, जिससे राजा एक साथ बहुत से काम कर सके और एक समय में अनेक स्थानों पर कार्य कर सके; या राजकीय कार्य ही एक समय में अनेक न हों या एक समय मे अनेक स्थानों पर न हो, तो अमात्यों की कोई आवश्यकता न होगी, क्योंकि अमात्यों की आवश्यकता तो 'परोक्ष राजवृत्ति' के लिये ही है। राजवृत्ति का स्वरूप ही ऐसा है कि वह एक व्यक्ति द्वारा संपन्न नहीं हो सकती। उसके लिये सहायक चाहिएँ। "जैसे एक पहिए की गाड़ी नहीं चलती, वैसे ही सहायता के बिना राजा का कार्य नहीं चल सकता।"[2] पर यहाँ ध्यान मे रखना चाहिए कि अमात्यों और पुरोहित की आवश्यकता इसलिये नहीं है कि राज्य में उनकी राजा से व्यतिरिक्त कोई पृथक् सत्ता या अधिकार है। उनकी आवश्यकता इसलिये है कि राजा पूर्ण नहीं है, उसमें कुछ आंतरिक त्रुटियाँ हैं, कुछ स्वाभाविक न्यूनताएँ हैं। राजा की इस असर्वशक्तिमत्ता से ही पुरोहित या अमात्यों की आवश्यकता की जाती है।

---

(१) 'अयौगपद्यात्तु कर्मणामनेकत्वात् अनेकस्थत्वाच्च देशकालात्ययो मा भूत् इति परोक्षम् अमात्यैः कारयेत् इति।'

(कौ० अर्थ० १। ८)

(२) 'सहायसाध्यं राजत्वं चक्रमेकं न वर्तते।'

(कौ० अर्थ० १। ७)

कौटिल्य का यही अभिप्राय अर्थशास्त्र के एक अन्य प्रकरण द्वारा भी स्पष्ट होता है। कौटिल्य के अनुसार राजा की शक्तियाँ तीन होती हैं—प्रभाव-शक्ति, उत्साह-शक्ति और मंत्र-शक्ति।[1] इनमें प्रभाव-शक्ति का अभिप्राय है, कोश और सेना की शक्ति। उत्साह-शक्ति से राजा के अपने शौर्य, स्वास्थ्य, शिक्षा, पराक्रम आदि द्वारा उत्पन्न आंतरिक उत्साह का ग्रहण होता है। मंत्र-शक्ति का अभिप्राय उस परामर्श और सलाह से है, जिसे प्राप्त करने मे राजा समर्थ होता है। पर ध्यान में रखने की बात यह है कि ये सब शक्तियाँ राजा में निहित हैं। यदि किसी राजा के मंत्री उत्तम हैं, उसकी परामर्श-सभा बड़ी है, तो यह उसकी अपनी शक्ति है, जिसका कि वह अपनी वस्तु की तरह उपयोग कर सकता है। यही कारण है कि इन तीनों शक्तियों मे किसका अधिक महत्त्व है, इस बात पर कौटिल्य ने विस्तृत रूप से विचार किया है और उत्साह-शक्ति, प्रभाव-शक्ति तथा मंत्र-शक्ति में पिछली पिछली शक्ति अधिक महत्त्व-पूर्ण है, यह परिणाम निकाला है। कोश, सेना और मत्री सब राजा के सहायक हैं। जिस प्रकार राजा के लिये उसका अपना उत्साह उपयोगी है, उसी तरह ये भी। ये सब राजा की दृष्टि से एक ढंग की वस्तुएँ हैं।

कौटिलीय अर्थशास्त्र के अनुसार राजा जिन मंत्रियों से सलाह लेता है, जिनके द्वारा उसकी मंत्रिपरिषद् का निर्माण होता है, वे मंत्रिपद पर अपने किसी अधिकार से आरूढ़ नहीं होते। न वे जनता के प्रतिनिधि या स्वाभाविक नेता होने के कारण या जनता के प्रति उत्तरदायी होने के कारण ही

(१) कौ० अर्थ० ६। १।
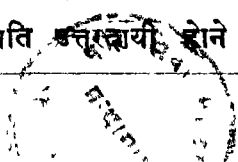
मंत्रिपद प्राप्त करते हैं। कौटिल्य के अनुसार मंत्री किसे बनाया जाय और किसे नहीं, यह पूर्णतया राजा की इच्छा पर निर्भर है। क्योंकि राजा पूर्ण नहीं है, अत: उसे सहायक की—सलाहकार की—आवश्यकता है, इसी के लिये मंत्री बनाए जाने चाहिएँ और ये मंत्री ऐसे होने चाहिएँ, जिनसे राजा का हित संपादित हो। मंत्रणा के विषय पर अर्थशास्त्र में विस्तार से विचार किया गया है। मंत्रणा के लिये राजा को एक ऐसा भवन बनवाना चाहिए जहाँ से कोई भी खबर बाहर न जा सके, जो गुप्त स्थान पर हो और पक्षी तक जिसे न देख सकते हों।[1] जब तक इस बात का पूरा प्रबंध न कर लिया जाय कि बात-चीत बाहर न निकल जायगी, तब तक मंत्रगृह में प्रवेश नहीं करना चाहिए।[2] जो कोई बात-चीत को खोल दे, उसे मृत्यु-दंड दिया जाय।[3]

पुराने राजतंत्र राज्यों में यह बहुत आवश्यक समझा जाता था कि मंत्रणा गुप्त रहे, इसी लिये आचार्य भारद्वाज का मत था कि सदा अकेला ही राजा आवश्यक कार्यों पर विचार करे, क्योंकि मंत्रियों के भी मंत्री होते हैं और उनके भी अपने। इस प्रकार मंत्रियों की परंपरा मंत्रणा को गुप्त नहीं रहने देती। पर आचार्य विशालाक्ष के ख़याल में अकेले ठीक मंत्रणा नहीं हो सकती। राजवृत्ति या राजकीय कार्य ही ऐसे हैं कि वे प्रत्यक्ष होने के अतिरिक्त परोक्ष और अनुमेय

(१) 'तदुद्देश. संवृतः कथानामनिस्रावी पक्षिभिरप्यनालोक्यः स्यात्।'
(कौ० अर्थ० १। १५)

(२) 'तस्मान्मंत्रोद्देशमनायुक्तो नोपगच्छेत्।'
(कौ० अर्थ० १। १५)

(३) 'उच्छिद्येत मंत्रभेदी।' (कौ० अर्थ० १। १५)

भी हैं। अतः परोक्ष तथा अनुमेय राजवृत्ति के लिये मंत्रियों की आवश्यकता है। इसलिये राजा को चाहिए कि बुद्धिमान् व्यक्तियों से मंत्रणा किया करे। किसी को भी नीची निगाह से न देखे, सबकी सलाह सुने। यदि बालक भी कोई काम की बात कहे, तो समझदार आदमी उसे ग्रहण कर ले। पराशर आचार्य इससे भी सहमत नहीं हैं। उनकी सम्मति में इस तरह मंत्रणा तो हो जायगी, पर वह गुप्त न रह सकेगी। इसलिये राजा को जो काम करना हो, उससे उलटा मंत्रियों से पूछे। पर आचार्य पिशुन का खयाल है कि जब इस ढंग से सलाह की जाती है, तब मंत्री लोग विशेष परवाह नहीं करते। इसलिये जिन लोगों से जिन कामों का संबंध हो, उनके विषय में उन्हीं से सलाह ले। ऐसा करने से उचित सलाह भी मिल जाती है और मंत्र की रक्षा भी हो सकती है।[1] इन पुरातन आचार्यों के मत उद्धृत कर अंत में कौटिल्य ने अपनी सलाह दी है। कौटिल्य के मत में राजा को तीन या चार मंत्रियों से सलाह करनी चाहिए। यदि राजा एक मंत्री के साथ परामर्श करे, तो गहन विषयों मे किसी परिणाम पर न पहुँच सकेगा। साथ ही, एक मंत्री होने से उसकी महत्ता बहुत बढ़ जायगी, वह यथेष्ट काम करेगा, बेलगाम हो जायगा। यदि दो मंत्री हों, तो मुश्किल यह है कि यदि वे मिल जायँ, तब तो राजा को दबा लेंगे और यदि परस्पर झगड़ें तो काम बिगाड़ देंगे। यदि तीन और चार मंत्री हों तो ये दोष न आवेंगे और सब काम ठीक तरह हो जायगा। यदि मंत्री इनसे अधिक हों, तो किसी एक निर्णय

---

(१) कौ० अर्थ० १।१४।

पर पहुँचना कठिन हो जायगा और मंत्र को गुप्त रखना भी संभव न होगा।[१]

कौटिलीय अर्थशास्त्र के इस संदर्भ से स्पष्ट है कि राजा को मंत्रणा की आवश्यकता है, इसी लिये मंत्री चाहिएँ। अन्यथा मंत्रियों की कोई जरूरत नहीं। मंत्रिपरिषद् का विधान चाणक्य ने अवश्य किया है, पर उसका हेतु केवलमात्र राजा की अपूर्णता है। यदि राजा को पूर्ण बनाया जा सके, तो न उसे पुरोहित की आवश्यकता होगी, न मंत्रियों की और न अमात्यों की। इन सबकी आवश्यकता इसी लिये होती है, क्योंकि राजा पूर्ण नहीं है, सर्वशक्तिमान् नहीं है और राज-वृत्ति पूरी तरह से प्रत्यक्ष नहीं है। वह परोक्ष और अनुमेय भी है।

यदि राजा अपना शासन-कार्य ठीक प्रकार से करता रहे, तब तो कोई समस्या उत्पन्न नहीं हो सकती। जनता उससे संतुष्ट रहेगी, प्रजा उसकी भक्त बनी रहेगी। पर यदि राजा अपने काम में ढील करेगा, तो प्रजा असंतुष्ट होगी, जनता में उपेक्षा का भाव उत्पन्न हो जायगा। "यदि राजा जो न करना चाहिए, उसे करे और जो करना चाहिए उसे न करे, जो नहीं देना चाहिए उसे दे, और जो देना चाहिए उसे न दे, जिसे दंड देना चाहिए उसे दंड न दे और जिसे दंड नहीं देना चाहिए उसे दंड दे, जनता के योगक्षेम में प्रमाद और आलस्य करे, तो जनता का विनाश हो जायगा, उसमें लोभ उत्पन्न हो जायगा और राजा के प्रति उपेक्षा का भाव पैदा

---

(१) कौ० अर्थ० १। १४।

हो जायगा।"[1] इसलिये राजा को चाहिए कि वह अपने कार्य में खूब उत्साह रखे, उत्साहपूर्वक अपने कार्य का संपादन करे। "जब राजा कर्मण्य होता है, तब राजकर्मचारी भी कर्मण्य रहते हैं, जब राजा प्रमाद करने लगता है, तब राज-कर्मचारी भी प्रमादी हो जाते हैं अतः राजा को सदा कर्मशील और उत्थानशील होना चाहिए।"[2] कौटिल्य के राजशास्त्र में राजा को मशीन की तरह से काम करना चाहिए। वह क्षण भर के लिये भी ढीला नहीं पड़ सकता। उसके एक एक क्षण का समय-विभाग बना हुआ है। उसमें वह ठीक समय पर काम करता है। सब कार्यों के लिये समय निश्चित है और प्रत्येक कार्य अपने समय पर किया जाता है। उसको सोने के लिये कुल तीन घंटे दिए गए हैं। मौज करने के लिये डेढ़ घंटे का समय दिया गया है, पर आवश्यकता पड़ने पर इस समय में भी मंत्रणा की व्यवस्था की गई है। दिन-रात का शेष संपूर्ण भाग राजकार्यों में व्यग्र होकर ही उसे व्यतीत करना चाहिए।[3] यह सर्वथा उपयुक्त भी है, क्योंकि "कर्मण्यता या उत्थान ही राजा का व्रत है, राज्यकार्य का संपादन ही

---

(१) 'अकार्याणां च करणैः कार्याणां च प्रणाशनैः।
अप्रदानैश्च देयानां अदेयानां च साधनैः॥
अदण्डनैश्च दंड्यानां अदंड्यानां च दंडनैः।
राज्ञः प्रमादालस्याभ्यां योगक्षेमविधावपि।
प्रकृतीनां क्षयो लाभो वैराग्यं चोपजायते॥'
(कौ० अर्थ० ७। ५)

(२) 'राजानामुत्तिष्ठमानमनूत्तिष्ठंते भृत्याः। प्रमाद्यंतमनुप्रमाद्यंति।'
(कौ० अर्थ० १। १६)

(३) कौ० अर्थ० १। १६।

राजा का यज्ञ है, सबके साथ समवृत्ति ही राजा की दक्षिणा है।''[१] और ''यदि राजा कर्मण्य नहीं होगा, तो उसका विनाश निश्चित है, जो कुछ प्राप्त है या प्राप्त होना है वह सब अकर्मण्य होने से नष्ट हो जायगा।''[२] इसलिये राजा को चाहिए कि वह सदा कर्मण्य बना रहे, प्रजा का हित-संपादन करता रहे, अन्यथा उसका तथा राज्य का विनाश हो जायगा।

इस प्रकार यह स्पष्ट है कि आचार्य चाणक्य के मत में राज्य में राजा का बहुत महत्त्व है। राजा ही वस्तुतः राज्य का संचालक और कर्ता-धर्ता है। यदि राजा न हो, तो राज्य का ठीक प्रकार से संचालन न हो सकेगा। राजा का न होना राज्य के लिये बहुत बड़ी विपत्ति है। इसी लिये यदि कभी राजा पर कोई संकट उपस्थित हो, तो उसका राज्य पर भी बड़ा असर पड़ेगा। समझ लीजिए, राजा भयंकर रूप से बीमार पड़ा है, उसके मरने की पूरी संभावना है, अब क्या किया जाय? या, अन्य किसी कारण से राजा कार्य करने मे असमर्थ हो, तो किस ढंग से कार्य को सँभाला जाय? चाणक्य ने इस प्रश्न पर विस्तार से विचार किया है। ऐसे समय में प्रधान अमात्य को विशेष सचेष्टता के साथ कार्य करना चाहिए। राजा की मृत्यु होने की संभावना होते ही प्रधान

---

(१) 'राज्ञो हि व्रतमुत्थानं यज्ञः कर्मानुशासनम्।
दक्षिणा वृत्तिसाम्यं च दीक्षितस्याभिषेचनम्॥'
(कौ० अर्थ० १। १९)

(२) ''अनुत्थाने ध्रुवो नाशः प्राप्तस्यानागतस्य च।''
(कौ० अर्थ० १। १९)

अमात्य को चाहिए कि वह जनता को राजा के दर्शन महीने में या दो महीनों में एक बार से अधिक न करवाए। वह लोगों से कहे—"आजकल राजा देश की पीड़ा को दूर करनेवाले, शत्रुओं का विनाश करनेवाले, आयु बढ़ानेवाले या पुत्र देनेवाले कर्मों में लगा हुआ है।" इस बहाने से वह लोगों को यह न मालूम होने दे कि राजा बीमार है या किसी संकट में है। जब बहुत समय गुजर जाय और यह आवश्यक हो कि राजा को जनता के सम्मुख लाया जाय, तब किसी दूसरे आदमी को राजा का वेश पहनाकर उसका दर्शन करा दे। मित्र, शत्रु तथा दूतों के साथ भी यही चाल चली जाय। ऐसे समय में प्रधान अमात्य ही राज्य का संपूर्ण कार्य करता रहे। जो आज्ञाएँ जारी करनी जरूरी हों, उन्हें दौवभरिक और आंतर्वशिक द्वारा राजा के नाम पर प्रकाशित करे। विदेशी इन आदमियों से राजा की तरफ से स्वयं बात करें। इस बीच में धीरे धीरे संपूर्ण शासनभार युवराज पर डालता रहे और जब युवराज पूरी तरह शासनकार्य को सँभाल ले, तब जनता के सम्मुख राजा की मृत्यु के समाचार को प्रगट होने दिया जाय।[१] राजा पर आए संकट को इस प्रकार छिपाने का कारण यही है कि जनता मे यह बात मालूम होते ही उथल पुथल मच जाने की संभावना रहती थी। अपने राज्य में विविध सामंत विद्रोह करने की तैयारी शुरू कर देते थे, पुराने संघराज्यों मे स्वाधीनता की भावनाएँ क्रिया में परिणत होने की आशा करने लगती थीं, आटविक लोग अव्यवस्था मचाना शुरू कर देते थे। सीमावर्त्ती दुर्गों में षड्यंत्र शुरू हो जाते थे, भिन्न भिन्न राज-

---

(१) कौ० अर्थ० ५। ६।

कुमार स्वयं राजा होने की फिकर प्रारंभ कर देते थे। दूसरे राज्यों में—शत्रुदेशों मे राजा के संकट से लाभ उठाने के लिये तैयारी प्रारंभ हो जाती थी। अंतर्राष्ट्रीय राजनीति में तूफान आ जाता था। साम्राज्यवादियों में अपनी आकांक्षाओं की पूर्त्ति की संभावना प्रबल हो उठती थी। लोग सोचते थे, मौका आया है, कुछ कर देखो। मौके बार बार नहीं आया करते। "मौके की ताक मे बैठे हुए मनुष्य को एक बार ही मौका मिला करता है। यदि वह दुबारा मौका ढूँढ़े, तो मौका उसके हाथ नहीं लगता।"[1] ऐसे समय में प्रधान अमात्य को कैसी विकट परिस्थिति का सामना करना पड़ता होगा, इसकी कल्पना कर सकना कठिन नहीं है। कौटिल्य ने इन सब विपत्तियों की कल्पना कर उनके प्रत्युदाय के साधनों का बड़ा विशद रूप से वर्णन किया है।[2] पुराने ढंग के कुलतंत्र राज्यों (Tribal States) मे राजा के बीमार पड़ने या मरने पर इस ढंग से किसी भारी आपत्ति की संभावना न हो सकती थी, क्योंकि इन राज्यों मे राज्य का आधार एक व्यक्ति न था। तब शासन श्रेणी, जाति या जनता का होता था। पर अब इन प्रादेशिक राज्यों और साम्राज्यों में राज्य का आधार एक व्यक्ति बन गया था। पुराने छोटे छोटे राज्यों की स्मृति अब भी पूरी तरह नष्ट न हुई थी। गणराज्यों मे स्वतंत्रता की भावनाएँ तो अभी काफी प्रबल रूप में विद्यमान थीं। राजतंत्र राज्यों के पुराने राजवंशों के लोग अभी तक अपने अतीत गौरव

(१) 'कालश्च सकृदभ्येति यं नरं कालकांक्षिणम्।
दुर्लभस्स पुनस्तस्य कालः कर्म चिकीर्षतः॥'
(कौ० अर्थ० ५। ६)

(२) कौ० अर्थ० ५। ६।

की स्मृति रखते थे। इसी लिये राजा को विपत्ति-ग्रस्त देखते ही वे फिर से अपने अतीत गौरव को पुनः स्थापित करने का स्वप्न देखने लगते थे। सब ओर विद्रोह और अव्यवस्था के चिह्न प्रगट होने लगते थे। आचार्य चाणक्य—जो भारतीय इतिहास में सबसे बड़ा साम्राज्यवादी हुआ है—इस समस्या को खूब समझता था। इसी लिये उसने इस बात की इतनी चिंता की है। निस्संदेह, कौटिल्य के राजशास्त्र में राजा का बहुत ही ऊँचा स्थान है। वह राज्य का आधार है, वह 'एक-राज' और 'एकेश्वर' है। उसके बिना उसके 'चातुरंत' साम्राज्य की स्थापना संभव ही नहीं है।

इस प्रकार का 'एकराज' स्वाभाविक रूप से असाधारण-तया कर्मण्य होकर, उत्साह तथा उत्थान की शक्ति से संपन्न होकर शासन-सूत्र का संचालन कर सकता था। यदि वह जरा भी ढील करे, गलती करे तो परिणाम क्या होगा? जनता या तो शत्रु से मिल जायगी या विद्रोह कर देगी।[1] जनता की ऐसे राजा मे भक्ति इसी कारण तो हो सकती है, क्योंकि वह सम्यक् प्रकार से शासन करता है। अन्यथा जनता उसके पक्ष में क्यों कर हो? कौटिल्य ने इस बात को अपने विजि-गीषु राजा को समझाने का खूब प्रयत्न किया है। जनता विद्रोह कर सकती है, शत्रु का पक्ष ग्रहण कर सकती है, किसी समिति को सहायता देकर उसे राजा बना सकती है। यदि राजा प्रमाद करेगा, तो जनता में ये सब प्रवृत्तियाँ जागरित

(१) 'क्षीणाः प्रकृतयो लोभं लुब्धा यांति विरागताम्।
विरक्ता यांत्यमित्रं वा भर्तारं घ्नन्ति वा स्वयम्॥'
(कौ० अर्थ० ७। ५)

हो उठेंगी। कौटिल्य ने अपने विजिगीषु को इस बात का भी उपदेश किया है कि जिन शत्रु-देशों में राजा प्रजा के प्रति कल्याणकारी न हो, उनमें जनता को अपने पक्ष में मिलाने का प्रयत्न करे, जनता के वैराग्य या उपेक्षा भाव से लाभ उठावे, गुप्तचरों द्वारा शत्रु-देशों की जनता में राजा के प्रति विरोध-भाव को बढ़ावे।[1] इन उपदेशों का वर्णन करता हुआ चाणक्य यह खूब समझता था कि राजतंत्र राज्यों में राजा की सत्ता और शक्ति राजा के अपने गुणों पर आश्रित है। इसी लिये वह अपने राजतंत्र में राजा को सर्वगुणसंपन्न आदर्शपूर्ण मनुष्य बनाने का प्रयत्न करता था और फिर भी मनुष्य की निर्बलताओं को दृष्टि में रखकर उनके लिये उपायों का उपदेश करता था। राजा के लिये उसका अंतिम सुवर्णीय आदर्श यह है—"प्रजा के सुख में ही राजा का सुख है। प्रजा के हित मे ही राजा का हित है। अपने स्वार्थों को पूर्ण करने में राजा का हित नहीं है, उसका हित तो प्रजा के स्वार्थों को पूर्ण करने मे ही है।[2]"

---

(१) कौ० अर्थ० १।१४; ७।५।

(२) 'प्रजासुखे सुखं राज्ञः प्रजानां तु हिते हितम्।
नात्मप्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम्॥'
(कौ० अर्थ० १।१९)

(२) पैशाची भाषा

[लेखक—श्री सत्यजीवन वर्म्मा, एम० ए०, प्रयाग]

वैयाकरण वररुचि ने अपने 'प्राकृतप्रकाश' के १०वें परिच्छेद में पैशाची प्राकृत के लक्षण लिखे हैं। वररुचि का काल ५वीं शताब्दी ईसवी माना जाता है।

नामकरण

प्राकृतप्रकाश मे महाराष्ट्री, पैशाची, मागधी और शौरसेनी—४ प्राकृतों का उल्लेख है। प्राकृतप्रकाश से प्राचीन अन्य प्राकृत व्याकरण का अभी तक पता नहीं चला है। वररुचि की अन्य तीन प्राकृतें देश-विशेष की प्राकृतें हैं पर पैशाची किस देश की भाषा है इसका कहना कठिन है। रुद्रट (९वीं शताब्दी) ने अपने काव्यालंकार में साहित्य के षट् विभाग करते समय 'पिशाच-भाषा' है उल्लेख किया है। इससे अनुमान होता है कि पैशाची किसी देश-विशेष की भाषा न होकर किसी विशिष्ट जन-समुदाय की भाषा थी जिसे 'पिशाच' कहते थे। राजशेखर (८८०-९२० ई०) ने अपने काव्यमीमांसा में 'भूतभाषा' और 'पैशाच' दोनों का समान अर्थ मे प्रयोग किया है। इससे पता चलता है कि भूत या पिशाचों की भाषा को पैशाची कहते थे और इसे कभी कभी 'भूतभाषा' भी कहते थे। दंडी ने (जिसका समय रुद्रट से भी पूर्व माना जाता है) भाषाओं के चार भेद किए हैं—संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्र। इसने प्राकृतों के नाम नहीं गिनाए हैं। साहित्यिक दृष्टि से केवल उनका उल्लेख किया है। इसके अनुसार 'भूतभाषा' में भी काव्य हो

सकता है और बृहत्कथा नामक अद्भुत ग्रंथ इसी भाषा में है। 'भूतभाषा' से दंडी का क्या तात्पर्य है—यह राजशेखर के उल्लेख से स्पष्ट हो जाता है। 'पैशाची' और 'भूतभाषा' एक ही भाषाएँ थीं। पिशाच, भूत नामक जातियाँ नीच श्रेणी की जातियाँ थीं, यह धनंजय (१०वीं शताब्दी) के दशरूपक से स्पष्ट होता है। धनंजय लिखता है—उसी भाँति पिशाच, नीच आदि लोग तथा अन्य इसी श्रेणी की पैशाची और मागधी का प्रयोग करें।[1]

वात्स्यायन कृत कामसूत्र मे (३री शताब्दी ई० पू०) संस्कृत के अतिरिक्त देशभाषा के प्रयोग का उल्लेख आता है।[2]

पैशाची का उल्लेख

ये देश-भाषाएँ कौन कौन थीं इसका पता नहीं है। वात्स्यायन के पूर्व पतंजलि (२ री शताब्दी ई० पू०) के 'व्याकरण' महाभाष्य से यह पता चलता है कि उस समय संस्कृत के अतिरिक्त प्राकृतों का भी प्रचार था। पतंजलि ने संस्कृत से निकले हुए शब्दों को 'अपभ्रंश' का नाम दिया है[3]—आजकल इसी अर्थ मे हम 'तद्भव' का प्रयोग करते हैं। पतंजलि के दिए हुए उदाहरणों से हमें इसका प्रमाण मिलता है कि उस समय मे अनेक प्राकृतें वर्तमान थीं, पर केवल बोलचाल मे।

---

(१) पिशाचात्यन्तनीचादौ पैशाचं मागधं तथा।
यद्देशं नीचपात्रं यत् तद्देशं तस्य भाषितम् ॥
(दशरूपक २। ६६)

(२) नात्यतं संस्कृतेनैव नात्यंतं देशभाषया।
कथां गोष्ठीषु कथयन् लोके बहुमतो भवेत् ॥
(कामसूत्र १। ४। ३५)

(३) एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। गौरित्य शब्दस्य गावी, गोणी, गोता गोपोतालिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः।

भरत मुनि ने (दूसरी शताब्दी ई०) अपने नाट्यशास्त्र में संस्कृत के अतिरिक्त सात भाषाओं और अनेक विभाषाओं का उल्लेख किया है। जैसे

भाषा—मागधी, अवंतिका, प्राच्या, शूरसेनी, अर्धमागधी, बाह्लीका और दाक्षिणात्या।[1]

विभाषा—शबर, आभीर, चंडाल, सचर, द्रविड़, उड्र और अन्य वनचर जातियों की भाषाएँ।[2]

भरत के अनुसार प्राकृत तीन प्रकार की हैं—समान-शब्द, विभ्रष्ट और देशी। इनसे तात्पर्य्य तत्सम, तद्भव और देशज से है।[3] आगे चलकर भरत ने भाषा और विभाषा दो भेद किए हैं। विभाषा को वह प्राकृत से भिन्न समझते हैं। वे लिखते हैं[4]—

शबराणां शकादीना तत्स्वभावश्च यो गुणः।
सकारभाषा योक्तव्या चंडाली पुक्कसादिषु॥ ५३॥

यहाँ यह स्पष्ट है कि चंडाली नाम की कोई भाषा थी जो विभाषाओं में गिनी जाती थी।

---

(१) मागध्यवन्तिजा प्राच्या शूरसेन्यर्धमागधी।
बाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्तभाषाः प्रकीर्तिताः॥
(४८ अध्याय १७)

(२) शबराभीरचंडालसचरद्रविडोद्रजाः।
हीना वनेचराणां च विभाषा नाटके स्मृताः॥
(४९ " ")

(३) त्रिविधं तच्च विज्ञेयं नाट्ययोगे समासतः।
समानशब्दैर्विभ्रष्टं देशीमतमथापि वा॥
(३ " ")

(४) देखो नाट्यशास्त्र अध्याय १७।

वररुचि (५ वीं शताब्दी ई०) ने अपने प्राकृतप्रकाश के १० वें परिच्छेद मे पैशाची का व्याकरण दिया है। वररुचि ने चार प्राकृतों का उल्लेख किया है—महाराष्ट्री, मगधी, शौरसेनी और पैशाची। पैशाची के विषय में वररुचि लिखते हैं—इसकी प्रकृति शौरसेनी है।[१]

भामह (छठी शताब्दी का अंत) लिखता है—शब्द और अर्थ से काव्य होता है। यह गद्य और पद्य दो प्रकार का होता है इसके तीन भेद हैं—संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश।[२] भामह के अपभ्रंश के अंतर्गत पैशाची भी आती है। दंडी के अनुसार साहित्य चार भाषाओं में होता है—संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और मिश्रभाषा में।[३] संस्कृत दैवी भाषा है, तत्सम, तद्भव तथा देशी अनेक प्राकृत हैं।[४] आभीर आदि जातियों की भाषा अपभ्रंश कहलाती है। संस्कृत काव्य में सर्ग होते हैं, प्राकृत मे स्कंध, अपभ्रंश मे आसार, नाटक दोनों (मिश्र) में होते हैं।[५] कथा सब भाषाओं मे होती

(१) पैशाची ॥ १ ॥ प्रकृतिः शौरसेनी ॥ २ ॥
(परिच्छेद १०)

(२) शब्दार्थौ सहितौ काव्यं गद्यं पद्यं च तद्द्विधा
संस्कृतं प्राकृतं चान्यदपभ्रंश इति त्रिधा ॥
(काव्यालंकार १ । ३६)

(३) तदेतद्वाङ्मयं भूयः संस्कृतं प्राकृतं तथा।
अपभ्रंशश्च मिश्रञ्चेत्याहुरार्य्याश्चतुर्विधम् ॥
(काव्यादर्श १ । ३२)

(४) संस्कृतं नाम दैवी वागन्वाख्याता महर्षिभि ।
तद्भवस्तत्समो देशीत्यनेकः प्राकृतक्रमः ॥
(" " १ । ३३)

(५) संस्कृतं सर्गबन्धादि प्राकृतं स्कन्धकादिकम्।
आसारादीन्यपभ्रंशो नाटकादिषु मिश्रकम् ॥
(" " १ । ३७)

हैं—अद्भुत अर्थवाली 'बृहत्कथा' भूतभाषा में है।[1] दंडी ने कई प्राकृतों के नाम गिनाए हैं—महाराष्ट्र की भाषा शौरसेनी, गौड़ी, लाटी तथा अन्य इसी भाँति। दंडी ने पैशाची में भी साहित्य का होना लिखा है, यह तो स्पष्ट है। पैशाची को दंडी प्राकृतों में स्थान देते हैं वा नहीं यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता। पर पैशाची का प्रयोग बृहत्कथा जैसे अपूर्व ग्रंथ में हो चुका था यह निश्चय है। हम आगे चलकर देखेंगे कि बृहत्कथा से पैशाची वा भूतभाषा के प्रयोग की समाप्ति सी हो गई है।

रुद्रट ने, जिसका समय ९ वीं शताब्दी माना जाता है, अपने काव्यालंकार में लिखा है—भाषा के अनुसार काव्य के छः भेद संभव हैं—संस्कृत, प्राकृत, मागध, पिशाचभाषा, शौरसेनी और अपभ्रंश।[3] रुद्रट ने पैशाची को भी साहित्यिक दृष्टि से एक भाषा माना है। इसका संबंध प्राकृतों से जान पड़ता है।

राजशेखर ने, जिसका समय १० वीं शताब्दी का प्रारंभ है, अपनी काव्यमीमांसा मे कई स्थानों पर पैशाची वा भूतभाषा का उल्लेख किया है। राजशेखर के मतानुसार

---

(१) कथादिसर्वभाषाभिः संस्कृतेन च बध्यते।
भूतभाषामयीं प्राहुरद्भुतार्थां बृहत्कथाम्॥ ३८॥

(२) महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः।......१, ३४॥
शौरसेनी च गौड़ी च लाटी चान्या च तादृशी।
याति प्राकृतमित्येवं व्यवहारेषु सन्निधिम्॥ १, ३५॥

(३) भाषाभेदनिमित्तः षोढा भेदोऽस्य संभवति॥ २, ११॥
प्राकृत संस्कृत मागध, पिशाचभाषाश्च शौरसेनी च॥२,१२॥
षष्ठोऽत्र भूरिभेदो देशविशेषादपभ्रंशः॥ २, १२॥

पैशाची—काव्यपुरुष का 'पद' है।[१] इससे स्पष्ट है कि राजशेखर ने पैशाची को अन्य भाषाओं में सबसे नीचा स्थान दिया है। दूसरी बात यह है कि 'पैशाची' को राजशेखर ने प्राकृत और अपभ्रंश से पृथक् भाषा माना है, क्योंकि काव्य पुरुष के अंगों को यह संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश, पैशाची और मिश्र भाषाओं से अभिव्यक्त करता है।[२] आगे वह लिखता है—एक ही अर्थ एक कवि द्वारा संस्कृत में अच्छी तरह व्यक्त किया जा सकता है, दूसरे से प्राकृत में, तीसरे द्वारा अपभ्रंश में और अन्य से भूतभाषा में।[३] सुकवि, जिसकी बुद्धि सबमें प्रपन्न है, अपनी कीर्त्ति से जगत् को भर देता है।[४]

राजशेखर को भूगोल का अच्छा ज्ञान था। उसमें रुचि भी थी। उसने पैशाची का देशनिर्णय भी किया है। वह लिखता है—गौड़ के लोग संस्कृत का प्रयोग करते हैं, लाट देशवाले प्राकृत मे अभिरुचि रखते हैं, मरु (मारवाड़), टक्क (पूर्व पंजाब) और भदानक (?) के लोग अपभ्रंश का प्रयोग करते हैं। अवंति, पारियात्र और दशपुर के लोग भूतभाषा का प्रयोग करते हैं।[५] इससे स्पष्ट है कि राजशेखर के समय में अवंति

(१) शब्दार्थौ ते शरीरं, संस्कृतं मुख, प्राकृतं बाहु., जघनमपभ्रंशः, पैशाचं पादौ उरोमिश्रम्। (काव्यमीमांसा पृ० ६)

(२) देखो वही।

(३) एकोऽर्थः संस्कृतोक्त्या स सुकविरचनः प्राकृतेनापरोऽस्मिन्।
अन्योऽपभ्रंशगोभिः किमपरमपरे भूतभाषाक्रमेण ॥
(काव्यमीमांसा पृ० ४८,)

(४) यस्येत्थं धीः प्रपन्ना स्नपयति सुकवेस्तस्य कीर्तिर्जगन्ति ॥

(५) गौडाद्याः संस्कृतस्थाः परिचितरुचयः प्राकृते लाटदेश्याः।
सापभ्रंशप्रयोगाः सकलमरुभुवष्टक्कभादानकाश्च ॥
आवन्त्याः पारियात्राः सह दशपुरजैर्भूतभाषां भजन्ते।
(काव्यमीमांसा पृ० ५१।)

(मध्यमालव), पारियात्र (पश्चिम विन्ध्यदेश), दशपुर (उत्तर-मालव) मे भूतभाषा वा पैशाची का प्रचार था ।

राजशेखर ने पैशाची को अपभ्रंश के बाद स्थान दिया है । ऐसा ही वाग्भट्ट का भी मत है । वाग्भट्ट का समय ई० १०६३-११४३ माना गया है । उसने काव्य के चार विभाग संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और भूतभाषा के अनुसार किए हैं ।[1]

धनंजय के पूर्व के लेखकों के अनुसार 'पैशाची' अथवा 'भूतभाषा' नीच लोगों की भाषा जान पड़ती है, चाहे ये लोग किसी स्थान में बसे हों । धनंजय के कथन से पता चलता है कि वह पैशाची को एक देश-विशेष की भाषा मानता है । वह लिखता है—'इसी प्रकार पिशाच, अत्यंत नीच लोग और अन्य उसी श्रेणी के पैशाची और मागधी का प्रयोग करें । **जिस देश का नीच पात्र हो उसी देश की भाषा का वह प्रयोग करे ।**' इससे यही मानना पड़ेगा कि प्रत्येक देश मे नीच श्रेणी के लोग वहाँ की पैशाची का व्यवहार करते थे । अर्थात् प्रत्येक देश की अलग अलग पैशाची थी—यह कहना पड़ेगा । मागधी का भी प्रयोग ऐसे ही लोग करते थे ।[2] राजशेखर के अनुसार अवंति, दशपुर

पिशाच देश

---

(१) इसके अनुसार भूतभाषा यह है—

यद् भूतैरुच्यते किंचित् तद् भौतिकम् इति स्मृतम् ।

(वाग्भटालंकार—२, १—३)

(२) "In like manner Pisacas, very low persons and the like are to speak Paishachi and Magadhi. Of whatever region an inferior character may be of that region his language is to be"—(Dashrupaka—translation by Hass. 2. 99)

और पारियात्र के लोग भूतभाषा का अधिक प्रयोग करते थे।[१] अतः राजशेखर के समय में उज्जैन, मालवा, पश्चिम विंध्यदेश में पैशाची का अधिक प्रयोग था। राजशेखर लिखता है "दक्षिणतो भूतभाषाकवयः"—दक्षिण में भूत-भाषा के कवि हैं। राजशेखर के 'दक्षिण' से भारत का दक्षिण न समझना चाहिए। वह कन्नौज को केंद्र मानता है और उसका दक्षिण मालव देश होता है। पैशाची का स्थान वही प्रांत होता है जो हमारी पश्चिमीय हिंदी का है।[२] लक्ष्मीधर, जिनका समय १६ वीं शताब्दी ईसवी होता है, 'षट्भाषा-चंद्रिका' में लिखते हैं—पांड्य, केकय, वाह्लीक, सिंहल, नेपाल, कुंतल, सुदेष्ण, भोट, गंधार, हैव और कन्नौजन देश पिशाच देश हैं।[३] मार्कंडेय (१७ वीं शताब्दी ई०) ने तीन देशों में पैशाची का प्रयोग बतलाया है; उनके अनुसार उसने उसका भेद इस प्रकार किया है—कैकेय, शौरसेन, पांचाल।

यहाँ यह स्मरण रखना चाहिए कि उपर्युक्त देशों का भौगोलिक नाम पिशाच नहीं था वरन् भाषा की प्रयोगदृष्टि से वे पिशाच देश माने गए हैं।

---

(१) देखो पृ० ४०

(२) देखो नागरीप्रचारिणी पत्रिका भाग २

(पुरानी हिंदी—गुलेरी)

(३) एते पिशाचदेशाः—

पाण्ड्यकेकयवाह्लीकसिंहनेपालकुन्तलाः।
सुदेष्णभोजगान्धारहैवकन्नौजनास्तथा॥ २६॥
एते पिशाचदेशाः स्युस्तद्देश्यस्तद्गुणो भवेत्।
पिशाचजातमथवा, पैशाचीद्वयमुच्यते॥ ३०॥

(षट्भाषाचंद्रिका पृ० ४)

डाक्टर ग्रियर्सन ने यह प्रमाणित करने की बड़ी चेष्टा की है कि पिशाच मानव जाति के लोग थे। उनका कथन है—

पैशाची वा भूतभाषा पिशाच वा भूतों की भाषा थी इसमें संदेह नहीं। उनका निवास पहले किसी देश-विशेष में था। क्रमशः उनके आगे बढ़ने और अन्य स्थानों में बस जाने पर उनके स्थान भी भिन्न भिन्न हुए। ऐसा मानना युक्तिसंगत जान पड़ता है। अब प्रश्न यह है कि पिशाच थे कौन ?

पिशाच कौन थे ?

पिशाच का संस्कृत रूप 'पिश्शासिन्' और प्राकृत पिसाजा (हेमचंद्र १,१७७) पिसास वा पिसला (हेमचंद्र १,१९३) होता है। परवर्त्ती संस्कृत लेखकों के अनुसार 'पिशाच' लोग राक्षस थे जो कच्चा मांस खाते थे। इन्हें भूत भी कहा है।[१] यह नाम वेदों में अनेक स्थल पर आया है— इसी अर्थ में—राक्षस तथा असुर शब्दों का भी प्रयोग हुआ है।[२] राक्षसों और असुरों के भी यही लक्षण माने गए हैं जो भूतों के। यद्यपि ये कल्पित व्यक्ति हैं पर इनकी कल्पना तथ्य पर स्थित है। महाभारत में 'नर-भक्षियों' के अर्थ में इनका अनेक स्थलों पर उल्लेख है। उदाहरणार्थ—

(१) उनकी विवाहपद्धति की निंदा। [१,२९६५;१३,२४१२]

---

(१) देखो Lacote, Essays on Brihat-katha, p. 49, 51.

(२) देखो Paisaci, Pisacas and modern Pisaca by Dr. Griesson page 19 (Reprint Z. D. M. G. Vol LXVI)

(२) उनकी व्यूह-रचना विशेष प्रकार की होती है।
[६,५००६]

(३) वे पूर्व पंचनद मे स्थित खांडव वन में रहते हैं।
[१,८२६३]

(४) उनकी स्त्रियों के एक गीत का उल्लेख। [३,१०५२०]

(५) पांडवों की सेना मे उनका होना। [६,२०८३]

(६) पार्वतीयां, दाशेरकों, काशमीरकों, आसुरकों, समुद्रलों के साथ साथ उनका (पिशाचों का) कृष्ण द्वारा नाश किया जाना। [७,३६८]

(७) साक, काम्बोज, वाह्लीक, यवन, पारद, कुलिंग, तंगन, अंबष्ठ, बर्बर तथा अन्य पार्वतीय जातियों की सेना के साथ साथ उनका भी दुर्योधन द्वारा नियंत्रण किया जाना।
[७,४८१६]

(८) राक्षस और पिशाच हिमवान् की रक्षा करते हैं।
[८,२१०४]

(९) सरस्वती के तट पर धार्मिक पिशाचों का रहना।
[९,२१४०-४९]

(१०) उनका क्षत्रियों की भाँति यज्ञ करना।
[१२,६५५,९९६०]

(११) जब युद्ध मे मरे अन्य योद्धाओं की आत्माएँ अपने अपने स्थान को जाती हैं तब पिशाचों की आत्मा 'उत्तर कुरु' को लौटती है। [१५,९०४]

(१२) पश्चिम पंचनद के वासी वाह्लीक लोग पिपासा तट पर रहनेवाले पिशाचों के वंशज हैं। [८,२०६४]

(१३) पिशाचों के अनेक भेद। [१३,१३९७]

(१४) उत्तर पश्चिम प्रांतों के रहनेवाले—दरद, खस, शक, यवन, आदि के साथ उनका उल्लेख। [७,३६८]

महाभारत में उल्लिखित 'पिशाच' से जातिविशेष का आभास मिलता है। अनेक स्थलों पर जैसे उदाहरण नं० १४ में पिशाचों की गिनती दरद, खस आदि जातियों के साथ की गई है। दरद आदि जातियाँ कल्पित नहीं थीं। अतः क्या यह संभव नहीं है कि पिशाच नामक जाति भी कल्पित न हो वरन् उन्हीं उल्लिखित जाति की भाँति वह भी उसी प्रदेश (उत्तर-पश्चिम हिमालय प्रदेश) की रहनेवाली हो ? डाक्टर ग्रियर्सन का कहना है—

"I consider myself justified in maintaining that the Mahabharat does on several occasions refer to people whom it calls "Pisacas". . . . . .as well as the names of the tribes together with whom they are listed, invariably indicates that Pisacas inhabited North-Western India or the Himalayan mountains immediately adjoining"[1]

अर्थात् महाभारत में पिशाचों से अनेक स्थलों पर मनुष्य-जाति से तात्पर्य्य है तथा जहाँ उनका उल्लेख जिन जातियों के साथ हुआ है उससे यह पता चलता है कि ये लोग उत्तर-पश्चिम हिमालय प्रदेश में वा उसके पास बसते थे।

इसके विरुद्ध अध्यापक फेलिक्स लाकोते (Prof. Felix Lacote) लिखते हैं—

---

(१) देखो Grierson—Paisaci, Pisacas and modern "Pisaca," page 68. Z. D. M. G. Vol. LXVI.

"To believe that at any time peoples more or less savage have really been called Pisacas is an illusion ; the word in Sanshkrit was always synonymous with 'Bhuta' The Pisacas mentioned in the Mahabbarata [VII, 121, 14] belong to an imaginary geography : The Yavanas, Paradas, Kalingas, Tanganas, Ambasthas, but just before the more vague classes of the barbarians and hill men. In that text the word Paisaca simply means' savages' in general [1]

सारांश यह कि—यह विश्वास कि अधिक या कम असभ्य लोग कभी 'पिशाच' नाम के थे भ्रमात्मक है। संस्कृत में यह शब्द 'भूत' का पर्यायवाची था। महाभारत में उल्लिखित 'पिशाच' लोग कल्पित प्रदेशों के रहनेवाले थे। जहाँ कहीं उनका उल्लेख वास्तविक जातियों के साथ आया है (जैसे यवन आदि) वहाँ उनका उल्लेख अनिश्चित असभ्य और पहाड़ी जातियों के साथ हुआ है। महाभारत में इस शब्द का अर्थ साधारणतः 'असभ्य' है। आगे चलकर लाकोते (Lacote) महोदय लिखते हैं—

"I am willing to admit that sometimes maneaters have been called Pisacas, but that the

---

(१) देखो Essays or Gunadhya and the Brihat Katha by Prof. Felix Lacote—translated by Rev. A. M. Tabbard, Page 39—Published by the Mythic Society, Bangalore.

generic term, used as a proper name is meant to designate some special tribe of the North-West, is less probable.[1]

ग्रियर्सन महोदय यह प्रमाणित करना चाहते हैं कि पिशाच लोग कल्पित व्यक्ति नहीं थे, वे किसी समय मध्य एशिया में रहते थे और पीछे चलकर उनका स्थान उत्तर-पश्चिम हिमालय प्रदेश हुआ। इसकी पुष्टि में वे कई बातों पर जोर देते हैं।[2] उनका कहना है कि महाभारत में 'पिशाच' शब्द कई स्थलों पर 'यक्षों' के साथ प्रयुक्त हुआ है। जातकों में 'पिशाच' नाम तो नहीं आया है पर उनके संबंध में वे ही बातें कही गई हैं जो पिशाचों के विषय में औरों ने लिखी हैं। कल्हण ने राजतरंगिणी में 'यक्ष' शब्द का प्रयोग पिशाच के अर्थ में किया है।[3] आजकल भी 'दरद प्रदेश' में 'भूतों' के लिये 'यक्ष' शब्द का व्यवहार मिलता है।[4] विष्णुपुराण के अनुसार पिशाच, यक्ष और राक्षस सभी कश्यप के पुत्र थे। कश्यप काश्मीर के विधाता माने गए हैं। पिशाच की माता का नाम 'क्रोधा', तथा यक्ष और राक्षस की माता का नाम 'खसा' था।[5] डाक्टर

---

(१) देखो "Essays on Gunadhya by Felix Lacote," Page 39.

(२) देखो Dr. Grierson Pisaca, etc., p. 67—70,

(३) राजतरंगिणी—

आद्येन चन्द्रदेवेन शमितो यक्षविप्लवः।
द्वितीयेन तु देशेस्मिन्दुःसहो भिक्षुविप्लवः॥

१८८ प्रथमतरंग॥

(४) देखो Leitner Dardistan Pt., III.,

(५) देखो ग्रियर्सन Pisaca etc., Page 70.,

ग्रियर्सन का कहना है कि 'खस्' से हम 'खस्' जाति का संबंध स्थापित कर सकते हैं—यह जाति अभी तक काश्मीर और कमायूँ के बीच के हिमालय प्रदेशों मे बसती है।[१]

नीलमत पुराण का समय ११ वीं शताब्दी ई० माना जा सकता है, इस पुराण मे लिखा है—

नाग लोग सतीसार मे रहते थे। शिव ने इस झील का पानी सुखा दिया और काशमीर को उत्पन्न किया। नील के पिता कश्यप तब उसे बसाने लगे। उन्होंने उसमे देवताओं, देवियों और नागों को बसाया। उनकी इच्छा वहाँ मनुष्यों को भी बसाने की थी परंतु नागों ने इसका विरोध किया। इस पर कश्यप ने उन्हें शाप दे दिया और उन्हें पिशाचों के साथ रहने पर विवश किया। नील ने अपने पिता को मनाया तब कश्यप ने कहा—

एवं उक्तः स नीलेन ऋषिः परमधार्मिकः।
उवाच वचनं चारु कश्यपोऽथ प्रजापतिः॥ २६२॥
वालुकार्णवमध्ये तु द्वीपः षट्योजनायतः।
तत्र सन्ति पिशाचा ये दैत्ययक्षाः सुदारुणाः॥ २६३॥
तेषां तु निग्रहार्थाय पिशाचाधिपतिर्बली।
निकुम्भनामा धर्मात्मा कुबेरेण तु योजितः॥ २६४॥
चैत्र्यां याति सदा योद्धुं पिशाचैर्बहुभिः सह।
पंचकोट्यः पिशाचानां निकुंभस्यानुयायिनाम्॥२६५॥

---

(१) देखो ग्रियर्सन Pisaca, etc., पृ० ७०

(२) यह अवतरण ग्रियर्सन ने अपने लेख Pisaca पृ० ७१ पर उद्धृत किया है।

गत्वा निकुंभस्तैस्सार्धं षट्मासान् युद्धरते सदा ।
तत्र कोट्यश्च पंचैव पिशाचानां दुरात्मनाम् ।। २६६ ।।
येऽधिकाः कोटिदशकान्नाशमायांति ते सदा ।
पक्ष्योरुभयोर्नील षट्भिर्मासैः सदैव तु ।। २६७ ।।
निकुंभः पुनरायाति पंचकोटिवृतो बली ।
शुक्लाश्वायुक् पंचदश्यां नित्यं देवप्रसादतः ।। २६८ ।।
हिमाचले तु षट्मासान् वसत्येष सदा सुखी ।
अद्यप्रभृति षण्मासाँस्तस्येह वसतिर्मया ।। २६९ ।।
दत्तेति सहितास्तेन ससैन्येनेह वत्स्यथ ।
षण्मासान् मानवैः सार्धं निकुंभे निर्गते सदा ।। २७० ।।
एवं उक्तस्तदा नीलः पितरं चाह धार्मिकः ।
नित्यमेव हि वत्स्यामो मनुष्यैः सहिता वयम् ।। २७१ ।।
न पिशाचैस्तु वत्स्यामो दारुणैर्दारुणप्रियै ।
एवं ब्रुवति नागेन्द्रे नीलं विष्णुरभाषत ।। २७२ ।।
विष्णुः—मुनिवाक्यं तु भविता नीलैवं तु चतुर्युगम् ।
ततः परं तु सुखिनो मनुष्यैः सह वत्स्यथ ।। २७३ ।।
अल्पवीर्य्याः पिशाचाश्च भविष्यन्तीह सर्वदा ।
वीर्योपेता गमिष्यन्ति षण्मासान् बालुकार्णवम् ।। २७४ ।।
नागस्य यस्य ये स्थाने निवसिष्यन्ति मानवाः ।
ते त सम्पृजयिष्यन्ति पुष्पधूपानुलेपनैः ।। २७५ ।।
नैवेद्यैर्विविधैर्गन्धैः प्रेक्षादानैश्च शोभनैः ।
त्वयोक्तं च सदाचारं पालयिष्यन्ति ये जनाः ।। २७६ ।।
तत्र देशे धान्यपुत्रपशुपौत्रसमन्विताः ।।

[इति नीलमते विष्णुवरदान-नागपूजाविधानवर्णनम् । अध्याय २३]

ऊपर के उद्धरणों से पता चलता है—

(१) निकुंभ पिशाचों का राजा था।

(२) वालुकार्णव में एक द्वीप में वे रहते थे। वालुकार्णव (बालू के समुद्र) से नीलमत का आशय किसी मरुभूमि से है। संभव है, उनका आशय मध्य एशिया के वालुकामय प्रदेश से हो। वालुकार्णव द्वीप से तात्पर्य्य किसी रसा (oasis) से है।

ग्रियर्सन साहब पिशाचों और यक्षों को एक मानते हैं और उनका कथन है कि वे भी नरमांसभोजी थे। उत्तर-पश्चिम पहाड़ी प्रांतों में प्रचलित नरमांसभोजियों की दंत-कथाओं के आधार पर वे कहते हैं कि यही प्रदेश उनका निवासस्थान था।[1] उनका अनुमान है कि पिशाच नितांत कल्पित व्यक्ति नहीं थे। वरन् आर्यों ने अनार्यों वा विदेशी आर्यों के लिये इस शब्द का प्रयोग किया है—

ग्रियर्सन महोदय के विचारों का सारांश यह है—

(१) पिशाच लोग वास्तविक व्यक्ति थे। वे कच्चा मांस खाते थे।

(२) यह नाम ऐसी अन्य जातियों के लिये भी प्रयुक्त किया गया जिनमें अनार्यों के लक्षण दिखाई पड़े।

(३) महाभारत से प्रमाण मिलता है कि ये लोग उत्तर-पश्चिम पहाड़ी प्रदेशों में रहते थे।

(४) पिशाच लोग किसी समय मध्य एशिया की मरुभूमि में रहते थे। क्रमशः वे काफीरिस्तान में आ बसे।

---

(१) देखो ग्रियर्सन Pisaca, etc. पृ०, ७३।

(क) हार्नली महोदय का मत है कि पैशाची निम्नश्रेणी की प्राकृत है जो द्रविड़ जातियों के द्वारा बोली जाती थी। वास्तव में यह आर्य भाषा है पर अनार्यों द्वारा व्यवहृत होने से यह विकृत हो गई और इसका नाम पैशाची पड़ा।

पैशाची पर भिन्न भिन्न मत

(Hoernle Gaudian Grammar XI)

(ख) सेनार्ट का मत है कि पैशाची उस समय की प्रचलित भारतीय भाषा थी। वररुचि के समय में उसका वही रूप था जो अपभ्रंश का था। पीछे के वैयाकरणों ने उसमें विभेद किया है।

(Inscription de Piyadasi II, 501 note)

(ग) पिशल् का मत है कि पैशाची स्वतंत्र प्राकृत थी जिसका प्रचार भारत के उत्तर-पश्चिम प्रदेशों में था।

(Grammatik der Prakrit Sprachen, 28)

(घ) अध्यापक लाकोते (Lacote) का मत है कि गुणाढ्य की पैशाची किसी आर्यभाषा से निकली थी जिसका प्रचार उत्तर-पश्चिम वा पश्चिम में था परंतु यह अनार्यों के व्यवहार मे थी।

(Essays on Gunadhya Brihat Katha)

(ङ) कोनो (Konow) का विचार है कि पैशाची आर्य-भाषा है पर इसका व्यवहार द्रविड़ (अनार्य) लोग करते थे।

(The Home of Paisaci Z. D. M. G. LXIV, 112)

(च) ग्रियर्सन महोदय का मत ऊपर दिया जा चुका है।

पैशाची भाषा में कोई ग्रंथ उपलब्ध नहीं है। संभवतः पैशाची भाषा में साहित्य-रचना ही कम हुई। पैशाची में ही गुणाढ्य ने 'बृहत्कथा' की रचना की थी ऐसा दंडी के लिखने से पता चलता है; पर इस 'कथा' का अब केवल संस्कृत अनुवाद उपलब्ध है। इस कथा को छोड़ इस भाषा का किसी अन्य ग्रंथ में प्रयोग हुआ था या नहीं इसका कहीं उल्लेख भी नहीं मिलता है।

पैशाची साहित्य

तिब्बतियों का कथन है कि उनके यहाँ 'स्थविर' लोग अपने धर्मग्रंथों को पैशाची भाषा में लिखते थे।[१] वास्तव मे पैशाची भाषा में इनके धर्मग्रंथ थे इसका कोई प्रत्यक्ष प्रमाण नहीं है। लाकोते महोदय का मत है कि पैशाची से तात्पर्य सबसे निम्न श्रेणी की भाषा से है। तिब्बतियों के अन्य तीनों सप्रदायों में संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश का प्रयोग था—'स्थविर' लोग सबसे नीची श्रेणी के माने जाते थे, अतः उनका 'पैशाची' भाषा में धर्मग्रंथों का लिखना कहा गया।[२]

हेमचंद्र ने भी अपने व्याकरण में तीन प्रकार की पैशाची का उल्लेख किया है—पैशाची और चूलिका पैशाचिका के दो भेद। चूलिका पैशाची का केवल एक ही उदाहरण हेमचंद्र ने दिया है।[३] और कहीं कोई प्रमाण नहीं है जिससे यह कहा जा सके कि पैशाची भी साहित्य की भाषा थी। इसमें संदेह नहीं कि यह बोलचाल में अवश्य प्रयुक्त होती थी।

---

(१) देखो लाकोते Essay on Brihat Katha, p. 37.

(२) देखो वही पृष्ठ ३७।

(३) देखो Grammatik der Prakrit Sprachen Pischal IV 326

सेनार्ट महोदय का कहना है कि संभवतः पैशाची से तात्पर्य अपभ्रंश से था। वररुचि ने अपभ्रंश का उल्लेख न कर केवल पैशाची का उल्लेख किया है—संभव है, उस समय अपभ्रंश के ही अर्थ में वररुचि ने 'पैशाची' का प्रयोग किया हो—आगे चलकर अपभ्रंश नाम पड़ने पर इसका उल्लेख अन्य वैयाकरणों ने किया है।[1]

पैशाची और वैयाकरण

प्राचीनतम वैयाकरण वररुचि ने अपने प्राकृतप्रकाश के १० वें अध्याय में पैशाची के नियम दिए हैं। वररुचि ने पैशाची का केवल एक रूप दिया है। उनके पश्चात् हेमचंद्र ने तीन प्रकार की पैशाची का उल्लेख किया है। आगे चलकर मार्कंडेय ने तीन प्रकार की नागर वा शिष्ट पैशाची का उल्लेख किया है—कैकेय, शौरसेन और पांचाल। उनके मत से कैकेय की उत्पत्ति संस्कृत से है। शौरसेन और पांचाल—शौरसेनी प्राकृत से हैं। इनके अतिरिक्त मार्कंडेय ने अनेक असाहित्यिक अपभ्रंशों (पैशाची) का उल्लेख किया है—कांची देशीय, पांड्य, मागध, गौड़, व्राचड़, दाक्षिणात्य, शबर और द्रविड़।

पैशाची के लक्षण

वररुचि ने पैशाची के कुल १४ सूत्र दिए हैं। उनके सूत्रों पर 'भामह' ने वृत्ति लिखी है। उन नियमों का सारांश नीचे दिया जाता है[2] —

(१) देखो ग्रियर्सन Pisaca, page 75.

(२) प्राकृतप्रकाश—कोवेल संपादित अध्याय १०।

(१) पैशाची—पिशाचों की भाषा पैशाची है।

(२) उसकी प्रकृति शौरसेनी है।

(३) वर्ग के तीसरे और चौथे वर्ण के स्थान में पहला और दूसरा हो जाता है। जैसे—

गगनम् = गकनम्; मेघः = मेखो; राजा = राचा; निर्झर-खिच्छरा; बडिश = वटिसं; दशवदनो = दसवतनो; माधवो - माथवो; गोविंदो = गोपिंतो; केशव = कसयो; सरभस = सर-फस, शलभ = सलफो।

यदि संयुक्त वर्ण हो तो नहीं, जैसे—

संग्राम = संगाम; व्याघ्र = वग्घो।

(४) 'इव' शब्द का 'पिव' होता है।

कमलमिव मुखम् = कमलं पिव मुखं।

(५) 'ण' का 'न' होता है। जैसे—

तरुणी = तलुनी।

(६) 'ष्ट' का 'सट' होता है। जैसे —

कष्टं = कसटं।

(७) 'स्न' का 'सन' होता है। जैसे—

स्नानं = सनानं; स्नेहो = सनेहो।

(८) 'र्य' का 'रिअ' होता है। जैसे—

भार्या = भरिआ।

(९) 'ज्ञ' का 'ञ' होता है। जैसे—

विज्ञात = विञातो; सर्वज्ञ = सव्वञो।

(१०) 'कन्या' शब्द मे 'न्य' का 'ञ' होता है। जैसे—

कन्या = कञा।

(११) 'र्य' का 'य्य' होता है। जैसे—

कार्यम् (सं०)—कज्जम् (शौर०) = कय्यम् (पैशा०)

(१२) राजन् शब्द तृतीया, पंचमी, षष्ठी और सप्तमी में विभक्ति (एकवचन) लगने के पूर्व 'राचि' होता है। जैसे—राचिना, रञ्ञा, रचिनो, रञ्ञा; राचिनि, रञ्ञि।

(१३) 'क्त्वा' प्रत्यय के स्थान में 'तून' होता है। जैसे—

दातूनं, कातूनं, घेतूनं।

(१४) 'हृदयं' का हितप्पकं होता है।

अब हमें विचार करना है कि वास्तव में (१) पैशाची कौन सी भाषा थी, (२) इसका संबंध क्या पिशाच जाति से है, (३) इसमें साहित्य न होने का क्या कारण है, और (४) प्राचीन समय में इसका प्रचार कहाँ था, इत्यादि।

विचारणीय बातें

राजशेखर ने पैशाची को भाषाओं में सबसे नीचा स्थान दिया है। राजशेखर की इस व्यवस्था से मुझे विश्वास होता है कि उसका तात्पर्य भूतभाषा वा पैशाची से असंस्कृत असाहित्यिक देशभाषा से है। राजशेखर के समय मे शिष्ट समाज की तीन साहित्यिक भाषाएँ थीं—संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश। 'भूत-भाषा' वा बोल चाल की गँवारू भाषा में भी कुछ ग्राम्य कवि कविता करते रहे होंगे, इसी से राजशेखर ने भूतभाषा को भी काव्य की चौथी भाषा माना है। राजशेखर ने काव्य-पुरुष के चरण को पैशाची माना है।

'पैशाची' से तात्पर्य

भूतभाषा निम्नश्रेणी के लोगों की भाषा थी, इसकी पुष्टि में हमें राजशेखर से पुनः सहायता मिलती है। काव्यमीमांसा मे राजा के कवि-समाज की व्यवस्था कैसी होनी चाहिए, इस पर इस प्रकार लिखा है।[1]

राजा का कर्तव्य है कि 'कवि-समाज' का आयोजन करे। इसके अधिवेशन के लिये एक भवन बनना चाहिए जिसमें सोलह खंभे, चार द्वार और आठ मत्तवारणी (अटारियाँ) हों। इसी में लगा हुआ राजा का क्रीड़ा-गृह रहेगा। सभा के बीच में चार खंभों को छोड़कर एक हाथ ऊँचा एक चबूतरा होगा। उसके ऊपर एक मणि-जटित वेदिका हो। इसी वेदिका पर राजा का आसन होगा। इसके उत्तर की ओर संस्कृत भाषा के कवि बैठेंगे। यदि एक ही आदमी कई भाषा में कविता करता हो तो जिस भाषा में उसकी अधिक प्रवीणता होगी वह उसी भाषा का कवि समझा जायगा। जो कई भाषाओं में बराबर प्रवीण है वह, उठ उठकर, जहाँ चाहे बैठ सकता है। इन (संस्कृत कवियों) के पीछे वैदिक, दार्शनिक, पौराणिक, स्मृतिशास्त्री, वैद्य, ज्योतिषी, इत्यादि हों। पूरब की ओर प्राकृत भाषा के कवि—इनके पीछे नर, नर्तक, गायन, वादक, वाग्जीवन ('वाक्' किंवा 'बोलने' से जिनकी जीविका हो Professional Lecturer, आजकल के उपदेशक), कुशीलव, तालावचर (ताल देनेवाला—तबला या मृदंगवाला) इत्यादि हों। पश्चिम की ओर अपभ्रंश भाषा के कवि हों—इनके पीछे चित्रकार, लेपकार, मणि जड़नेवाले, जौहरी, सोनार, बढ़ई, लोहार इत्यादि हों। दक्षिण की ओर पैशाची भाषा के

(१) देखो काव्यमीमांसा पृ० ५४।

कवि—इनके पीछे वेश्या-लंपट, वेश्या, रस्सों पर नाचनेवाले, जादूगर, जंभक (?) पहलवान, सिपाही इत्यादि।[1]

राजशेखर ने सभा-भवन का ऐसा विधान किया है कि प्रत्येक भाषा के कवि के पीछे उस भाषा के जाननेवाले लोग बैठें। इसी के अनुसार पैशाची भाषा के कवियों के पीछे वेश्या-लंपट, वेश्या, रस्सों पर नाचनेवाले आदि बैठते थे। इससे स्पष्ट है कि ये निम्न श्रेणी के लोग थे। इनमें प्रायः सभी अशिक्षित होंगे।

भूतभाषा निम्न श्रेणी के लोगों की भाषा थी। इसका अनुमोदन 'वाग्भट्ट' ने भी किया है। उसने भूतभाषा को संस्कृत, प्राकृत तथा अपभ्रंश के पश्चात् स्थान दिया है। रुद्रट ने 'पिशाचभाषा' को भी साहित्य की एक भाषा माना है। दंडी ने साहित्य की तीन भाषाएँ बताई हैं—संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश। वह लिखता है—संस्कृत देववाणी है। प्राकृतों के कई भेद हैं। तद्भव, तत्सम और देशी अनेक प्राकृतें हैं। आभीर आदि की बोली अपभ्रंश है। आगे चलकर दंडी लिखते हैं—"कथा सब भाषाओं में होती है, संस्कृत में भी होती है। अद्‌भुत अर्थवाली बृहत्कथा भूतभाषा में है।" यहाँ ऊपर दंडी ने भाषाओं में कहीं भूतभाषा का उल्लेख न कर एकाएक भूतभाषा का उल्लेख क्यों किया? इस पर विचार करने से यही कहना पड़ता है कि कदाचित् दंडी का तात्पर्य प्राकृतों के अंतर्गत 'देशी' से हो। और उस समय देशी' प्राकृत को लोग 'भूतभाषा' समझते रहे हों। तो क्या दंडी के समय भूतभाषा से तात्पर्य 'देशी' (वा निम्न श्रेणी की गँवारू?) प्राकृत से था?

(१) देखो 'कविरहस्य'—डाक्टर गंगानाथ झा पृ० ७१—७२। (हि० एकेडेमी)

यहाँ पर एक बात ध्यान देने की यह है कि दंडी ने आभीर आदि की भाषा को पृथक् अपभ्रंश नाम दिया है अतः 'देशी प्राकृत' वा भूतभाषा से तात्पर्य निम्न श्रेणी के लोगों की स्थानीय देशज भाषा से हो सकता है जिसे गँवारू कह सकते हैं। पर यह प्राकृत ही थी।

दंडी के पूर्व भामह ने भूतभाषा या पैशाची की साहित्यिक भाषाओं में गणना नहीं की है। इसका कारण यही हो सकता है कि उस समय उसका साहित्य न होगा। भामह ने केवल काव्य में प्रचलित भाषा के अनुसार संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश का उल्लेख किया है। वररुचि ने प्राकृतों का व्याकरण रचते समय 'पैशाची' को प्राकृतों में स्थान दिया है। उसमें 'अपभ्रंश' का उल्लेख नहीं किया है। जान पड़ता है, वररुचि इसे प्राकृत नहीं मानता। ऐसा करना उचित भी है; क्योंकि अपभ्रंश की गणना प्राकृतों में नहीं हो सकती—उसे उनसे भिन्न भाषा मानना पड़ेगा। दंडी ने इसी से उसे आभीरों आदि की वाणी कहा है।

वररुचि ने मागधी और पैशाची दोनों प्राकृतों की प्रकृति शौरसेनी मानी है; और शौरसेनी की प्रकृति वह संस्कृत मानता है। वररुचि और दंडी दोनों ने महाराष्ट्री को प्रधान प्राकृत माना है जिससे स्पष्ट है कि उस समय महाराष्ट्री साहित्य की शिष्ट भाषा रही होगी। यह निश्चय है कि शौरसेनी आदि भाषाओं का प्रचार साहित्य में उतना नहीं था जितना महाराष्ट्री का। दंडी का कहना है—

शौरसेनी च गौडी च लाटी चान्या च तादृशी।
याति प्राकृतमित्येवं व्यवहारेषु सन्निधिम्॥

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि दंडी इन भाषाओं की साहित्यिक प्रधानता पर उतना जोर नहीं देता। इसके 'तादृशी' प्राकृतों में 'भूतभाषा' को भी स्थान मिल सकता है। स्मरण रहे, अपभ्रंश को दंडी स्वयं प्राकृतों से भिन्न भाषा मानता है।[१] रुद्रट ने भी पैशाची को प्राकृतों ही में स्थान दिया है[२] और अपभ्रंश के अनेक भेद गिनाए हैं—जैसे—नागर, उपनागर, द्राविड़, टक्क, मालवी, पंचाली, कालिंदी गुर्जरी, वैतालिकी, कांची, आभीरी, शबरी इत्यादि। रुद्रट दंडी के पीछे हुए हैं। चंड ने प्राकृत लक्षण में आर्ष प्राकृत के नियम दिए हैं। चंड ने प्राकृत तीन प्रकार की मानी है—संस्कृतयोनि संस्कृतसमं, और देशी प्रसिद्धम्। पैशाची और मागधी का भी उल्लेख उसमें आया है। चंड का समय ६ठीं शताब्दी के आसपास माना जा सकता है।[३] चंड ने अपने व्याकरण मे आर्ष प्राकृत के नियम दिए हैं। 'आर्ष' से चंड का वही तात्पर्य जान पड़ता है जो हेमचंद्र का 'पुराणं' से है।[४] इसके विश्लेषण से यह पता चलता है कि चंड ने अपने व्याकरण मे—प्राकृत, मागधी, पैशाची और अपभ्रंश के नियम दिए हैं। प्राकृत से तात्पर्य्य महाराष्ट्री, शौरसेनी और अर्धमागधी से है।[४]

---

(१) दंडी ने लिखा है—आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः।

(२) देखो पीछे पृष्ठ ३६ का ३ और षट्भाषाचंद्रिका p. 289 (Notes)

(३) देखो Introduction to भावेसत्तकहा by Dalal, p.63. (G. O. S.)

(४) Introduction—Prakrit Lakshan, by Hoernle.

पीछे के वैयाकरणों ने 'महाराष्ट्री' का अर्थ लिखा है। लक्ष्मीधर षड्भाषाचंद्रिका में लिखते हैं—

षड्विधा सा प्राकृतं च शौरसेनी च मागधी।
पैशाचीचूलिका पैशाच्यपभ्रंश इति क्रमात्॥ २६॥
तत्र तु प्राकृतं नाम महाराष्ट्रोद्भवं विदुः।
शूरसेनोद्भवा भाषा शौरसेनीति गीयते॥ २७॥

दंडी ने भी लिखा है—

'महाराष्ट्राश्रयां भाषां प्रकृष्टं प्राकृतं विदुः।'

रुद्रट ने भी भाषा का उल्लेख करते समय 'प्राकृत, संस्कृत, मागध, पिशाचभाषाश्च शौरसेनी च' लिखा है। यहाँ भी प्राकृत से तात्पर्य महाराष्ट्री से है।

आधुनिक व्याकरण-लेखकों मे (१) हेमचंद्र ने भाषा के भेद बतलाते हुए पैशाची को प्राकृतों मे स्थान दिया है—

जैसे—महाराष्ट्री, मागधी, शौरसेनी, पैशाची, चूलिका पैशाची और अपभ्रंश। यहाँ पर पैशाची के दो भेद किए गए हैं—एक पैशाची जो शिष्ट भाषा है, दूसरी बोलचाल की।

(२) शेषकृष्ण ने अपनी प्राकृतचंद्रिका में पाँच प्राकृतों का उल्लेख किया है—प्राकृत, शौरसेनी, मागधी, पैशाची, चूलिका पैशाची। भाषा-भेद मे छठा नंबर उसने अपभ्रंश का रखा है जिसके अनेक भेद हैं और उसका नाटकों में प्रचार भी नहीं है।[१]

---

(१) अपभ्रंशस्तु यो भेदः षष्ठः सोऽत्र न लक्ष्यते।
देशभाषादितुल्यत्वान्नाटकाचदर्शनात्॥
अनत्यन्तोपयोगाच्चातिप्रसंगभयादपि॥
(प्राकृतचंद्रिका)

(३) मार्कंडेय ने प्राकृतसर्वस्व में भाषाओं के निम्नलिखित भेद किए हैं—
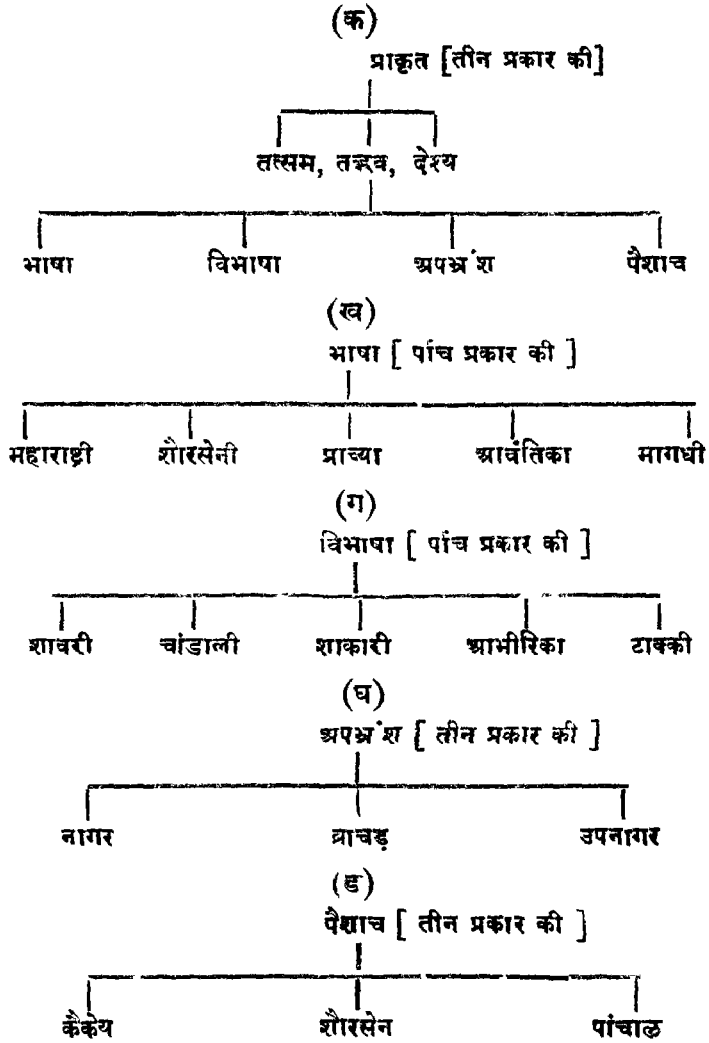
यहां कुछ बातों पर विशेष ध्यान देने की आवश्यकता है—

(१) पैशाची को मार्कंडेय ने तद्भव प्राकृत का भेद माना है—अर्थात् पैशाची तद्भव प्राकृत है जो देशी से भिन्न है।

(२) पैशाची के देशानुसार तीन भेद हैं—कैकेय, शौरसेन, पांचाल।

(३) मार्कंडेय ने पैशाची को भाषा (प्राकृत) का भेद नहीं माना वरन् विभाषा और अपभ्रंश से स्वतंत्र एक तद्भव प्राकृत माना है। किसी अंश में यह भी मानना पड़ेगा कि उसने पैशाची को अपभ्रंश के पश्चात् स्थान दिया है। यहाँ यह स्पष्ट है कि चांडाली का पैशाची से कुछ भी संबंध नहीं है, वरन् वह विभाषा का एक भेद है।

अब हमें भरत मुनि के मत को लेकर देखना चाहिए कि सब से प्राचीन और नूतन मत में पैशाची के विषय में कितना सामंजस्य है।

भरत मुनि अपने नाट्यशास्त्र के १७वें अध्याय में नाटक में प्रयोज्य भाषाओं पर विचार करते हैं, उसका सारांश यह है[1]। भरत मुनि लिखते हैं—

संस्कृत के विषय में मैं कह चुका, अब प्राकृत के विषय में कहता हूँ—(१) संस्कृत से भिन्न संस्कार-गुण-रहित कई प्रकार की प्राकृतें हैं। (२) नाटक में तीन प्रकार की होती हैं—समान शब्दवाली, विभ्रष्ट, और देशी। (३) इसके पश्चात् उन्होंने उन नियमों का उल्लेख किया है जिनसे संस्कृत से प्राकृत में परिवर्तन होता है। इन नियमों में सभी प्राकृतों के नियम हैं, पैशाची के भी नियम वर्तमान हैं।[2]

---

(१) नीचे सारांश में कोष्ठक के भीतर मूल श्लोक की संख्या दी है।
(२) उदाहरणार्थ—

अब देशभाषा के विषय में कहते हैं (२४) संस्कृत और प्राकृत भाषा भी चार प्रकार की होती है जिसका प्रयोग नाटक में होता है (२५) अभिभाषा (अतिभाषा ?), आर्यभाषा (अर्धभाषा ?), जातिभाषा और जात्यंतरी भाषा। (२६) अभिभाषा[1] देवों की भाषा है, आर्य्यभाषा राजाओं की, यह संस्कार किए हुए शब्दों से युक्त होती है और ग्राम्य में प्रतिष्ठित होती है (२७) जातिभाषा के अनेक भेद हैं। इसका प्रयोग दिखाया जा चुका है, इसमें म्लेच्छों के शब्दों का भी व्यवहार होता है जो भारत में रहते हैं (२८)—जो जात्यंतरी भाषा[2] है वह ग्राम, अरण्य के पशुओं से उत्पन्न है।

चारों वर्णों के प्रयोग में आनेवाली जाति भाषा दो प्रकार की कही है—संस्कृत और प्राकृत (३०)।

इसके आगे भरत मुनि ने यह बतलाया है कि कौन प्राकृत का प्रयोग करे कौन संस्कृत का—(३१—४१)। मनुष्य की सब जातियों के लोगों के लिये भी नाटक में भाषा का प्रयोग होवे पर बर्बर, किरात, आंध्र, द्रविड़ आदि जातियों के लिये नहीं

श्लोक ११ में जो 'शषोःस' से मिलता है।
,, १३ में जो 'नो णनो.' से मिलता है।
{ देखो षट्भाषा-चंद्रिका पैशाची पृष्ठ २४७

(१) अतिभाषा और अभिभाषा दोनें पाठ है—यथा (१) अति-भाषार्थभाषा च (२) अभिभापा तु देवानाम्।

(नाटयशास्त्र ,७—२६)

(२) मूल यह है—अथ या जात्यन्तरी भाषा ग्रामारण्यपशूद्भवा।
नाना विहंगजा चैव नाट्यधर्मी प्रयोगजा ॥ २६ ॥

(नाट्यशास्त्र अध्याय १७)

पाठ भ्रमात्मक होने से अर्थ स्पष्ट नहीं है।—लेखक।

(४४)। इन सब उच्च जातियों के लिये नाटक में 'भाषा' का प्रयोग होना चाहिए। (४५) शौरसेनी का आश्रय लेकर नाटक में भाषा की रचना हो अथवा प्रयोग करनेवाले (कवि) के इच्छानुसार किसी भी 'देशभाषा' का प्रयोग हो (४६) क्योंकि नाटक में सब देशों से संबंध रखनेवाली कविता होती है। (४७)

मागध, अवंतिका, प्राच्या, शूरसेनी, अर्धमागधी, बाह्लीका, दक्षिणात्या—ये सात **भाषाएँ** हैं। (४८) शबर, आभीर, चंडाल, सचर, द्रविड़, ओड्र तथा अन्य नीच वनचर जातियों की वाणी—नाटक मे **विभाषा** मानी गई हैं। (४९)

नरेंद्र, अंतःपुरवासी लोग मागधी का प्रयोग करें—श्रेष्ठ, राजपुत्र तथा नौकर लोग अर्धमागधी का (५०), विदूषक प्राच्या का; धूर्त अवंतिका का; नायिकाएँ तथा उनकी सखियाँ शूरसेनी का प्रयोग करे (५१), योधा, नागर लोग दक्षिणात्य का, बाह्लीका—उदीच्य (उत्तर के रहनेवाले) खस लोगों की अपनी भाषा है (५२)

शबर, शक आदि तथा उसी स्वभाव के अन्य 'सकार' भाषा का प्रयोग करें; पुक्वस (?) आदि चांडालों का। (५३) कोयला फूँकनेवाले, व्याध, लकड़ी का काम करनेवाले, तथा यंत्र बनानेवाले और वन में रहनेवालों के लिये *'शबर भाषा'* का प्रयोग हो। (५४) गाय, भेड़, घोड़ा, ऊँट इत्यादि चरानेवाले के लिये 'आभीरी' वा 'शाबरी' का प्रयोग हो; द्रविड़ों के लिये द्राविड़ी का। (५६)

सुरंग, (?) खनक (?) आदि, शौंडिक (?), रक्षि (?), व्यसन में, नायकों द्वारा आत्मरक्षा में मागधी (५६) बर्बर,

किरात, आंध्र, द्रविड़ आदि जातियों के लिये भाषा का प्रयोग नाटक में न हो।[1] (५७)

ऊपर के सारे कथन का सारांश यह है :—

(१) संस्कारगुण-रहित, नाना देशों की भाषा प्राकृत है।

(२) उसके तीन भेद हैं—समान शब्द (तत्सम), विभ्रष्ट (तद्भव) और देशी।

(३) 'देशभाषा'[2] भाषाओं से मिलती जुलती देश की भाषा थी। 'भाषा' सात हैं। ये ही भिन्न भिन्न साहित्य की प्राकृतें थीं।

(४) विभाषा अनेक हैं। इनका संबंध अनेक जातियों से है जो प्रायः नीची श्रेणी की हैं।

भरत मुनि की भाषाओं में कहीं 'पैशाची' का नाम नहीं है। इसके दो कारण हो सकते हैं। या तो उसका संबंध विभाषाओं से है या 'देशभाषाओं' से। 'देशभाषा' से भरत मुनि का तात्पर्य देशी प्राकृतों से है जिनमें से साहित्य में प्रयुक्त होनेवाली कुछ प्राकृतों को उन्होंने सात भाषाओं में गिनाया है। भरत मुनि स्वयं लिखते हैं कि नाटक में शौरसेनी का आश्रय लेकर भाषा की रचना हो अथवा कवि स्वयं अपने इच्छानुसार

---

(१) नाट्य-शास्त्र का कोई अच्छा संस्करण उपलब्ध नहीं है। इसकी बड़ी आवश्यकता है। काव्यमाला सीरीज में प्रकाशित नाट्य-शास्त्र का पाठ कहीं कहीं अत्यंत अशुद्ध है। अतः 'अनुसंधान' के कार्य के योग्य नहीं है। परंतु अच्छे संस्करण की अनुपस्थिति में इसी से काम चलाना पड़ेगा। यह 'सारांश' उसी संस्करण के आधार पर है। (लेखक)

(२) 'देशभाषा' से वात्स्यायन का भी अभिप्राय प्राकृतों से है। देखो पृ० ३६ का नोट २। उस समय कथा आदि इसी भाषा में होती थीं।

देशभाषा का प्रयोग करे; क्योंकि नाटक में सब देश की भाषाएँ होती हैं।[1]

भरत मुनि के मत से भाषा वही है जो मार्कंडेय के मत से। विभाषा भी प्रायः वही हैं। केवल अपभ्रंश और पैशाची में अंतर है। यह स्वाभाविक है। मार्कंडेय के समय में आभीर भाषा विकसित होकर अपभ्रंश हो गई और उसके तीन भेद माने गए। पैशाची को उसके बाद स्थान मिला और मार्कंडेय ने कैकेय, शौरसेन और पांचाल देशों की अपभ्रंश से निम्नतर श्रेणी की भाषा को पैशाची कहा। राजशेखर की 'भूतभाषा' से मार्कंडेय की पैशाची का बहुत कुछ संबंध जान पड़ता है। क्या आश्चर्य है यदि यही भाषा पुरानी पश्चिमीय हिंदी का पूर्व रूप हो?

पैशाची का पिशाचों से संबंध जोड़ने के हेतु ग्रियर्सन महोदय ने बड़ा परिश्रम किया है पर इसकी आवश्यकता सर्वथा प्रतीत नहीं होती। पैशाची किसी जाति-विशेष की भाषा नहीं थी वरन् वह सर्वसाधारण की अपरिष्कृत वाणी थी। जहाँ कहीं की भाषा साहित्य की प्रचलित भाषा के अतिरिक्त साहित्य की भाषा बनने की चेष्टा करती थी उसी को लेखकों ने पैशाची वा भूतभाषा कहा है। वास्तव में 'भूतभाषा' नाम उचित है—भूत, पिशाच पर्य्यायवाची होने के कारण अज्ञानवश लोग उसे

पैशाची और पिशाच

---

(१) देखो ऊपर सारांश श्लोक नं० (४६)।

(२) भरत मुनि राक्षस, भूत, पिशाच तीनों को एक श्रेणी में रखते हैं। यथा—

रक्षोभूतपिशाचाश्च सर्वे हैमवताः स्मृताः।

(नाट्यशास्त्र १३—१८)

पैशाची भी कहने लगे। 'भूतभाषा' का नामकरण, जान पड़ता है, यों पड़ा कि संस्कृत को देववाणी कहते थे, प्राकृतों वा देशभाषा में साहित्य की भाषा को भाषा, नीच जातियों (जैसे आभीर आदि) की भाषा को विभाषा कहते थे और प्राकृतों में 'देशी' वा 'देश्य' प्राकृत को देववाणी तथा भाषा के विरुद्ध 'भूतभाषा' कहते थे। इसका तात्पर्य्य था निम्न श्रेणी की भाषा से।

पैशाची—प्राकृतों का ही एक भेद थी, यह सिद्ध है। वररुचि ने उसकी प्रकृति शौरसेनी मानी है। इसका प्रचार भी ऐसे ही देशों में था जहाँ 'प्राकृत' ही का प्रचार हो सकता था।

पिशाच सर्वथा कल्पित व्यक्ति थे—इसमें संदेह नहीं। चंडाल आदि मानव जातियाँ थीं; पर इनका संबंध चंडाली आदि विभाषाओं से था, पैशाची से नहीं। पिशाचों के विषय में भरत मुनि लिखते हैं—

रक्षोभूतपिशाचाश्च सर्वे हैमवताः स्मृताः।
हेमकूटे च गन्धर्वा विज्ञेयाः साप्सरोगणाः॥ १८॥

जहाँ इनका प्रसंग आता है वहाँ प्रायः सभी अमानुषी लोग हैं। एक दूसरे स्थान पर ऐसे ही अवसर पर भरत मुनि लिखते हैं—

दैत्याश्च दानवाश्चैव राक्षसा गुह्यका नगाः।
पिशाचा जलमाकाशमसिता वर्णतः स्मृताः॥ २१—८७॥

एक अन्य स्थान पर उनके शिरभूषा के विषय में कहते हैं—

पिशाचोन्मत्तभूतानां तापसानां तथैव च।
अनिस्तीर्णप्रतिज्ञानां लम्बकेशं भवेच्छिरः॥ २१—१२४॥

पिशाच जाति अमानुषी थी इसे प्रमाणित करने के लिये अधिक परिश्रम की आवश्यकता नहीं है। यह स्वयं सिद्ध है। यदि भरत मुनि के समय में कोई पिशाच नामक मनुष्य-जाति होती तो उन्होंने उसकी भाषा का अवश्य उल्लेख किया होता। पिशाचों का उन्होंने कई स्थानों पर उल्लेख किया है पर सर्वत्र अमानुषी लोगों के साथ। उनकी कोई विशेष भाषा नहीं मानी है वरन् जिस प्रदेश के वे रहनेवाले माने जाते थे उस प्रदेश की भाषा का वे व्यवहार करते थे। उदाहरणार्थ— पिशाचों का वासस्थान हिमालय माना जाता है अतः उसी प्रदेश की भाषा का वे प्रयोग करेंगे (संभवतः बाह्लीका)।

वररुचि के समय में शौरसेन के आसपास की भाषा क्रमशः साहित्य की भाषा बनने का प्रयत्न कर रही थी, अतः उसने उसे 'पैशाची' कहा और उसे शौरसेनी से भिन्न उसी से संबंध रखनेवाली दूसरी भाषा वा प्राकृत माना। यदि पैशाची 'पिशाचों' की भाषा होती तो वररुचि को हिमालय की किसी भाषा का उल्लेख करना पड़ता क्योंकि पिशाचों का वही देश माना जाता था। पिशाच आकर शौरसेन में बस गए, इस कल्पना की आवश्यकता नहीं। वररुचि के समय में, जान पड़ता है, शौरसेन प्रदेश के आसपास पैशाची और अपभ्रंश दोनों भाषाओं का प्रचार था, क्योंकि आभीर जाति वहाँ आस-पास बहुत पूर्व ही से बसती थी। कामसूत्र में वात्स्यायन ने आभीरों और मालवियों की स्त्रियों का उल्लेख किया है।[१] अतः निश्चय है कि उस समय आभीर जाति वहीं बसती थी।

---

(१) देखो—परिष्वङ्ग . ..प्रहणन साध्या मालव्य आभीर्यश्च ।।
(कामसूत्र २ । ५ । ८५)

वररुचि के अपभ्रंश का उल्लेख न करने का यही कारण हो सकता है कि उस समय 'अपभ्रंश' भाषा कोई प्रधान भाषा नहीं मानी जा सकती थी। उसकी अपेक्षा 'पैशाची' गण्य थी।

देखने से पता चलता है मानो पैशाची और अपभ्रंश की होड़ चली आती है। कभी एक आगे कभी दूसरी। इसका एक ही कारण हो सकता है—पहले पैशाची प्राकृत क्रम में निम्न श्रेणी की भाषा थी और अपभ्रंश उसके पश्चात् अप्राकृतों में स्थान पाती थी। क्रमशः अपभ्रंश का साहित्य बढ़ा और वह पैशाची से ऊपर उठकर साहित्य की भाषा हो गई। अतः पैशाची अपने प्राचीन अर्थ (बोलचाल) में रही। क्रमशः अन्य प्रदेशों मे जब वहाँ की 'भूतभाषा' (स्थानीय बोलचाल की भाषा) कुछ साहित्य की ओर बढ़ी तब लेखकों ने उसका उल्लेख किया। यही कारण है कि हम पैशाची का उल्लेख अनेक प्रदेशों की भाषा के स्थान मे पाते हैं।

अपभ्रंश और पैशाची

धनंजय पिशाच और मागध को समान समझता है। राजशेखर अवंति, दशपुर और पारियात्र में भूतभाषा का व्यवहार बतलाते हैं। लक्ष्मीधर पांड्य, कैकय, बाह्लीक, सिहल, नैपाल, कुंतल, सुदेष्ण, भोट, गंधार, हैव और कन्नौ-जन देश में इसका प्रचार मानते हैं। मार्कंडेय केवल पांचाल, कैकय और शौरसेन मे पैशाची का प्रचार बतलाते हैं। वास्तव में जिस देश की भाषा परिष्कृत नहीं पाई गई और साहित्य में उसका काम पड़ा वा जिस देश की भाषा साहित्यिक नहीं थी उसे पैशाची कह मारा।

पैशाची और अपभ्रंश की होड़ कैसे चली यह देखने योग्य है। अपभ्रंश आभीरों की भाषा थी—धीरे धीरे वह साहित्य

की भाषा बनी। जैसे जैसे यह होता गया, पैशाची उसके नीचे स्थान पाने लगी। यह उचित ही था। वररुचि के पश्चात् भामह ने पैशाची को उड़ा ही दिया है। वह केवल संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश मानता है, वास्तव में अपभ्रंश और पैशाची मे उसे अधिक अंतर नहीं जान पड़ा। दंडी के समय मे पैशाची वा भूतभाषा में गुणाढ्य की कथा वर्तमान थी अत: दंडी उसे भुला न सका पर उसने 'भूतभाषा' को 'तादृशी' प्राकृतों में रखकर अधिक समय नहीं नष्ट किया है। दंडी के समय में अपभ्रंश साहित्य की भाषा हो चली थी। रुद्रट ने पैशाची को भाषाओं मे माना है पर उसने अपभ्रंश के अनेक भेद लिखे हैं—जिसे देखने से पता चलता है कि उसकी एक शाखा नागर हो चली थी और उसकी अन्य शाखाओं का प्रचार अनेक प्रांतो मे था। विचार करने से स्पष्ट हो जाता है कि रुद्रट के अपभ्रंश के उपभेदो मे अनेक तो अपभ्रंश हैं पर कुछ पैशाची भी कही जा सकती है—जैसे पांचाली आदि। भरत मुनि के शब्दों में इनमे प्राय: विभाषाएँ है। रुद्रट पैशाची और अपभ्रंश में ठीक ठीक भेद नहीं कर सके हैं। राजशेखर ने पैशाची को अपभ्रंश से नीचा स्थान दिया है। उसके समय में अपभ्रंश का साहित्य अच्छा था। वाग्भट्ट का भी यही मत है। उसने भी उसे अपभ्रंश के बाद स्थान दिया है।

पैशाची साहित्य की अनुपस्थिति

यह सिद्ध है कि पैशाची वा भूतभाषा का साहित्य प्राप्त नहीं है। इसका कारण क्या है? यदि पैशाची में किसी ग्रंथ का उल्लेख मिलता है तो वह गुणाढ्य की बृहत्कथा का, वह भी केवल दंडी के काव्यादर्श मे। यदि पैशाची साहित्य की

भाषा होती तो उसका रूप कहीं न कहीं अवश्य दिखाई पड़ता और उसके व्याकरण भी मिलते। इने गिने वैयाकरणों ने पैशाची के नियम दिए हैं—यदि उसका साहित्य होता तो निश्चय उसका कुछ न कुछ अंश अवश्य प्रकट होता। जान पड़ता है कि पैशाची में कभी साहित्य की रचना हुई ही नहीं, न कभी इसे साहित्य में स्थान मिला। केवल गुणाढ्य ने अपनी बृहत्कथा इसमें रचा। संभव है, उसने प्रचलित दंतकथाओं का संग्रह तथा संपादन किया हो, और उसकी भाषा प्रचलित गँवारू ही रखी हो। इसके पश्चात् किसी ने ऐसा नहीं किया। राजशेखर ने 'भूतभाषाकवि' का भी उल्लेख किया है पर कहीं भूतभाषा साहित्य का उल्लेख नहीं है। विचार करने पर यही मानना पड़ेगा कि राजशेखर का तात्पर्य भाषा के उन कवियों से है जो बोलचाल की भाषा में तुकबंदी करते थे। पर वे पढ़े लिखे न थे और उनकी रचनाएँ मौखिक रह जाती थीं। राज दरबार में राजशेखर उन्हें ऐसे लोगों के पास बैठाता है जो इनकी कविता का आनंद उठा सकें; जैसे—वेश्या-लंपट, वेश्या, रस्सी पर नाचनेवाले, जादूगर आदि; यही अवस्था अन्य कालों में रही होगी—इसी कारण पैशाची के साहित्य का लोप है। यदि विचारपूर्वक देखें तो आज-कल भी ऐसी भाषा वर्तमान है जिसे हम 'भूतभाषा' के नाम से पुकार सकते हैं यद्यपि उसका रूप पुरानी पैशाची से भिन्न होगा पर वास्तव में वह 'पैशाची' वा भूतभाषा ही कहलायगी।

(१) संभव है, राजशेखर की भूतभाषा हमारी हिंदी का पूर्व रूप रही हो, जिसे पश्चिमी हिंदी कहते हैं। स्वर्गीय पंडित चंद्रधर गुलेरी का यही मत था। (देखो पत्रिका भाग २—पुरानी हिंदी)

ऐसी भाषा में क्या लोग कविता नहीं करते (ग्राम्य गीत हैं क्या !) पर उसका साहित्य कहाँ है ?

ऊपर के सारे कथन का सारांश यह है—

उपसंहार

(१) पैशाची का संबंध पिशाच जाति से कुछ नहीं जान पड़ता। पिशाच जाति अमानुषी जाति थी।

(२) पिशाची वा भूतभाषा से तात्पर्य बोलचाल की निम्न श्रेणी की भाषा से था जिसे आजकल की बोली में गँवारू कह सकते हैं।

(३) पिशाची नाम पीछे पड़ा—वास्तव में 'भूतभाषा' नाम था जिससे तात्पर्य उस भाषा से था जो देववाणी (संस्कृत) नहीं थी। इसे लोगों ने देशी, देश्य, विभाषा, देशभाषा-आदि नाम से भी अभिहित किया है।

(४) 'पिशाची' अनेक प्रांतों में थी। इससे तात्पर्य वहाँ की असंस्कृत भाषा से है।

(५) अपभ्रंश के विकास तथा साहित्य में पहुँचने पर पिशाची वा पैशाची को नीचा स्थान मिला। अपभ्रंश और पैशाची में इतना कम अंतर था कि कभी कभी ग्रंथकारों को भ्रम भी हुआ है।

(६) जहाँ जहाँ अपभ्रंश की पहुँच नहीं हुई थी वहाँ पैशाची का होना पीछे के ग्रंथकारों ने भी माना है।

(७) पैशाची में साहित्य न होने का यही कारण था कि वह साहित्य की भाषा ही न थी। यदि उसमें कुछ साहित्य भी रहा होगा तो मौखिक, जिसका शेष अब नहीं रह गया। केवल गुणाढ्य की बृहत्कथा इस भाषा में थी। संभव है,

यह 'ग्राम्य कथाओं' का संग्रह रहा हो जिसमें भूत पिशाचों की कथाएँ रहती थीं। इसका अब केवल संस्कृत अनुवाद वर्तमान है। उसके लोप होने का भी यही कारण हो सकता है कि उस समय का शिक्षित समाज 'भूतभाषा' या गँवारू भाषा में साहित्य पसंद नहीं करता था। यदि ऐसा न होता तो उसके संस्कृत अनुवाद की आवश्यकता कदाचित् न प्रतीत होती।

(८) राजशेखर ने जिस 'भूतभाषा' का उल्लेख किया है उसकी प्रचारभूमि के विषय में यही मानना पड़ेगा कि कदाचित् वही पश्चिमीय हिंदी का प्राचीन रूप था।

(९) 'भूतभाषा' का आजकल भी हम उसी रूप में अपनी प्राचीन बोलियों के लिये प्रयोग कर सकते हैं।

नोट—ये सब बातें अनुसंधानीय तथा विचारणीय हैं। विद्वानों से आग्रह है कि वे इन पर अपना मत प्रकट करने की कृपा करें। इसके पश्चात् ही इस विषय पर कोई मत स्थिर हो सकेगा।

(३) जैन काल-गणना-विषयक एक तीसरी प्राचीन परंपरा*

[लेखक—श्री मुनि कल्याणविजय]

काल-गणना संबंधी दो प्राचीन परंपराओं का वर्णन हमने मूल लेख में कर दिया है और उनके विवेचन में उपलब्ध सामग्री का यथेच्छ उपयोग भी कर दिया है, पर मेटर प्रेस में भेजने के बाद हमें इस विषय की एक नई परंपरा उपलब्ध हुई है जिसका संक्षिप्त परिचय इस लेख में दिया जाता है।

कुछ दिन पहले मुझे मालूम हुआ कि कच्छ देश के किसी पुस्तकभांडार में आचार्य **हिमवत्**-कृत "थेरावली" विद्यमान है। मैंने इस प्राकृत भाषामयी मूल **थेरावली** की प्राप्ति के लिये उद्योग किया और कर रहा हूँ, पर अब तक मूल पुस्तक मेरे हस्तगत नहीं हुई, केवल उसका **जामनगर**-निवासी पं० **हीरालाल हंसराज**-कृत गुजराती भाषांतर प्राप्त हुआ है, प्रस्तुत लेख उसी भाषांतर के आधार पर लिखा जा रहा है।

आचार्य **हिमवान्** एक प्रसिद्ध स्थविर थे। प्रसिद्ध अनुयोग-प्रवर्तक **स्कंदिलाचार्य** और **नागार्जुन** वाचक का सत्ता-समय ही इन **हिमवान्** का सत्ता-समय था इसमें कोई संदेह नहीं है; क्योंकि **देवर्द्धिगणि** की **नंदी-थेरावली** में इनका **स्कंदिल** के बाद और **नागार्जुन** के पहले उल्लेख

---

* यह पूर्व-प्रकाशित लेख का परिशिष्ट है।

है और प्रस्तुत **थेरावली** में इनको **स्कंदिल** का शिष्य लिखा है। पर यह निश्चय होना कठिन है कि यह **थेरावली** प्रस्तुत **हिमवत्**कृत है या अन्य कर्तृक। इसमें कई प्राचीन और अश्रुतपूर्व बातें ऐसी हैं जिनका प्राचीन शिलालेखों से भी समर्थन होता है[1], और इन बातों का प्रतिपादन इसमें देखकर इसे प्राचीन मानने को जी चाहता है, पर कतिपय बातें ऐसी भी हैं जो इस **थेरावली** की **हिमवत्**-कर्तृकता में शंका उत्पन्न करती हैं[2], वस्तुतः यह **थेरावली हिमवत्**-कृत है या नहीं यह प्रश्न अभी अनिर्णीत है, इसका निर्णय किसी दूसरे लेख में किया जायगा। यहाँ पर तो इसमें दी हुई काल-गणना और मुख्य मुख्य अन्य घटनाओं का दिग्दर्शन कराना ही पर्याप्त होगा।

थेरावली की विशेष बातें

थेरावली की प्रथम गाथा मे भगवान् **महावीर** और उनके मुख्य शिष्य **इंद्रभूति** गौतम को नमस्कार किया गया है और बाद मे १० गाथाओं में प्रसिद्ध स्थविरावलियों के क्रम से **सुधर्मा**, **जंबू**, **प्रभव**, **शय्यंभव**, **यशोभद्र**, **संभूतिविजय**, **भद्रबाहु**, **स्थूलभद्र**, आर्य **महागिरि**,

---

१ राजा **खारवेल** का वंश—इसके बाप दादों के नाम, इसके पुत्र **वक्रराय** और पौत्र **विदुहराय** के नाम इत्यादि अनेक बातों का पता शिलालेखों से मिलता है, इसकी चर्चा उन स्थलों के टिप्पणों मे यथास्थान की जायगी।

२ **रत्नप्रभसूरि** द्वारा **उपकेश वंश** की स्थापना का उल्लेख, **विक्रमार्क** और **गर्दभिल्ल** संबंधी घटना, दो तीन जगह **विक्रम संवत्** के प्रयोग वगैरह ऐसी बातें है जो इस थेरावली की आर्य्य **हिमवत्**-कर्तृकता मे संशय उत्पन्न करती है।

आर्य्य सुहस्ती और सुस्थित-सुप्रतिबुद्ध--इन स्थविरों की वंदना की है।

प्रारंभ की मूल गाथा इस प्रकार है—

"नमिऊण वद्धमाणं, तित्थयरं तं परं पयं पत्तं।
इंद्रभूइगणनाहं, कहेमि थेरावलि कमसो॥ १॥"

गाथा ६ठो में एक महत्त्वपूर्ण बात की सूचना है। स्थविर यशोभद्र के वर्णन में लिखा है कि उनके समय में अतिलोभी आठवाँ नंद मगध का राजा था। देखो निम्नलिखित गाथा—

"जसभद्दो मुणि पवरो, तप्पयसोहंकरो परो जाओ।
अट्ठमणंदो मगहे, रज्जं कुणइ तया अइलोही॥ ६॥"

यशोभद्र का स्वर्गवास इस थेरावली में तथा दूसरी सब पट्टावलियों में वीर-निर्वाण से १४८ वर्ष बीतने पर होना लिखा है। इसी समय की सूचना आठवें नंद के होने की इस गाथा में की है। इस थेरावली में आगे जो निर्वाण से १५४ के बाद चंद्रगुप्त मौर्य का राज्यारोहण लिखा है तथा आचार्य हेमचंद्र ने परिशिष्ट पर्व मे निर्वाण से १५५ वें वर्ष मे चंद्रगुप्त का जो राजा होना लिखा है उसका इस उल्लेख से समर्थन होता है।

गाथा ७वीं में भद्रबाहु को अंतिम चतुर्दशपूर्वी और सूत्रनिर्युक्तिकार लिखा है।

गाथा ९वीं मे आर्य महागिरि को जिनकल्पी और आर्य सुहस्ती को स्थविरकल्पी लिखा है।

गाथा १०वीं में आर्य सुहस्ती के शिष्य युगल सुस्थित सुप्रतिबुद्ध का वर्णन है; इसमें इन दोनों स्थविरों को कलिंगाधिप-भिक्षुराज-सम्मानित लिखा है। देखो आगे की गाथा—

"सुट्ठिय सुपडिबुद्धे, अज्जे दुन्ने वि ते नमंसामि।
भिक्खुराय-कलिंगा-हिवेण सम्माणिए जिट्ठे ॥ १० ॥"

इसके बाद इन्हीं गाथाओं में वर्णित आचार्यों की पट्ट-परंपरा का गद्य में वर्णन किया है. और कौन आचार्य निर्वाण पीछे कितने वर्षों के बाद स्वर्गप्राप्त हुए इसका स्पष्ट निर्देश किया गया है। इन संवत्सरों का उल्लेख हम आगे घटनावली में करेंगे।

यहाँ पर **भद्रबाहु** के स्वर्गवास के संबंध में एक नई बात देखने में आई है। श्रुतकेवली **भद्रबाहु** का स्वर्गवास किस स्थान पर हुआ, इसका वृत्तांत **मेरुतुंगीय अंचल-गच्छ पट्टावली** के अतिरिक्त किसी श्वेतांबर जैन ग्रंथ मे मेरे देखने में नहीं आया था। दिगंबर जैन साहित्य में भी इस बात का निर्णय नहीं है। बहुतेरे दिगंबर लेखक इनका स्वर्गवास **मैसूर** राज्य के **हासन** जिले मे **श्रवणबेल-गोल** के पास **चंद्रगिरि** नामक पहाड़ो पर हुआ बताते हैं, पर अन्य कतिपय ग्रंथकार इनका स्वर्गवास **अवंति** (मालवा) मे हुआ ऐसा प्रतिपादन करते हैं; किंतु हमें इन उल्लेखों पर कोई विश्वास नहीं है; क्योंकि ये उल्लेख **वराहमिहिर** के भाई द्वितीय **भद्रबाहु** को श्रुतकेवली समझकर किए गए हैं, जैसा कि मूल लेख मे प्रतिपादित किया गया है। श्रुतकेवली **भद्रबाहु** का स्वर्गवास किस स्थान पर हुआ, इसका वृत्तांत पूर्वोक्त **पट्टावली** के सिवा कहीं भी नहीं मिलने से हम सशंक थे, पर इस थेरावली में इस विषय का स्पष्ट उल्लेख मिल जाने से इस संबंध में अब हमें कोई शंका नहीं रही। इस थेरावली के लेखानुसार भी श्रुतकेवली **भद्रबाहु कलिंग** देश में **कुमार** पर्वत पर (आजकल का 'खंडगिरि' जो विक्रम की १०वीं

तथा ११वीं शताब्दी तक **कुमार** पर्वत कहलाता था) ही स्वर्गवासी हुए थे।

थेरावली का शब्दानुवाद इस प्रकार है—

"अंतिम चतुर्दश पूर्वधर स्थविर श्री आर्य **भद्रबाहु** भी **शकटाल** मंत्री के पुत्र आर्य **श्रीस्थूलभद्र** को अपने पट्ट पर स्थापित करके **श्रीमहावीर** प्रभु के बाद १७० वर्ष व्यतीत होने पर पंद्रह दिन का निर्जल अनशन कर कलिंग देश के **कुमार** नामक पर्वत पर प्रतिमा (ध्यान) धारी होकर स्वर्गवासी हुए।"

इसके बाद आर्य **स्थूलभद्र, महागिरि** और **सुहस्ती** का जिक्र है। आर्य **महागिरि** की प्रशंसा में "वुच्छिन्ने जिणकप्पे०" तथा "जिणकप्पपरीकम्मं" ये दो प्रसिद्ध गाथाएं दी हैं, जिनमें दूसरी गाथा के तृतीय चरण में कुछ पाठांतर है। टीकाओं और दूसरी पट्टावलियों में इसका तृतीय चरण "सिट्ठिघरम्मि सुहत्थी" इस प्रकार है, तब यहाँ पर "कुमरगिरिम्मि सुहत्थी," यह पाठ है। चूर्णियों में जो आर्य **महागिरि** का वृत्तांत मिलता है उससे तो प्रथम प्रसिद्ध पाठ ही ठीक जँचता है, पर यहाँ तो साफ लिखा है कि आर्य **सुहस्ती** ने **कुमार** पर्वत पर आर्य **महागिरि** की स्तुति की थी, इसलिये यह भी एक स्पष्ट मतभेद ही समझना चाहिए।

मगध के राजवंश

आर्य **महागिरि** और **सुहस्ती** का प्रसंग छोड़कर आगे **बिंबिसार** (श्रेणिक) और **अजातशत्रु** (कोणिक) तथा **उदायी, नवनंद** और **मौर्य** राज्य-संबंधी कतिपय

घटनाओं का गद्य में वर्णन किया है जो अवश्य दर्शनीय होने से हम उसका शब्दानुवाद नीचे देते हैं—

"उस काल और समय में, जब कि श्रमण भगवान् **महावीर** विचरते थे, **राजगृह** नगर में **बिंबिसार** उपनाम श्रेणिक राजा भगवान् **महावीर** का श्रेष्ठ श्रमणोपासक था, **पार्श्वनाथ** आदि के चरण युगलों से पवित्रित तथा साधु-साध्वियों से सेवित **कलिंग** देश के भूषण समान और तीर्थ-स्वरूप **कुमार कुमारी** नामक दोनों पर्वतों पर उस श्रेणिक राजा ने भगवान् **ऋषभस्वामी** तीर्थंकर का अति मनोहर प्रासाद बनवाया और उसमें **श्री ऋषभदेव** प्रभु की सुवर्णमयी प्रतिमा **सुधर्मस्वामि** द्वारा प्रतिष्ठित कराकर स्थापित की थी। इसके अतिरिक्त **श्रेणिक** ने उन दोनों पर्वतों में निर्ग्रंथ निर्ग्रंथियों के चातुर्मास्य मे रहने योग्य अनेक गुफाएँ खुदवाई थीं, जिनमे अनेक निर्ग्रंथ और निर्ग्रंथियाँ धर्म, जागरण, ध्यान, शास्त्राध्ययन और विविध तपस्या के साथ स्थिरतापूर्वक चातुर्मास्य करते हैं।

श्रेणिक का पुत्र **अजातशत्रु** अपर नाम **कोणिक** हुआ जिसने अपने बाप को पिंजड़े में कैदकर **चंपा** को **मगध** की राजधानी बनाया। **कोणिक** भी **श्रेणिक** की भाँति जैनधर्म का अनुयायी उत्कृष्ट श्रावक था। उसने भी **कलिंग** देश के **कुमार** तथा **कुमारी** पर्वत पर अपने नाम से अंकित पाँच गुफाएँ खुदवाईं। पर पिछले समय में **कोणिक** ने अति लोभ और अभिमान में आकर चक्रवर्ती बनने की इच्छा की, जिसके परिणाम स्वरूप उसे कृतमाल देव ने मार डाला।

भगवान् **महावीर** के निर्वाण से ७० वर्ष के बाद **पार्श्वनाथ** की परंपरा के ६ठे पट्टधर आचार्य **रत्नप्रभ**

ने उपकेश नगर में १८०००० क्षत्रिय-पुत्रों को उपदेश देकर जैनधर्मी बनाया, वहाँ से उपकेश नामक वंश चला।

भगवान् महावीर के निर्वाण के बाद ३१ वर्ष बीतने पर कोणिक-पुत्र उदायी ने पाटलिपुत्र नगर बसाया और उसे मगध की राजधानी बनाकर वह राज्य का कारोबार वहाँ ले गया।

उस समय में उदायी को दृढ़ जैनश्रावक जानकर साधु-वेशधारी किसी दुश्मन ने धर्मकथा सुनाने के बहाने एकांत में ले जाकर मार डाला।

प्रभु महावीर के निर्वाण के अनंतर ६० वर्ष व्यतीत होने पर नंद नाम के नापितपुत्र को मंत्रियों ने पाटलिपुत्र नगर में राज्यासन पर बिठाया। उसके वंश में क्रमशः नंद नामक नव राजा हुए। उनमें का आठवाँ नंद अत्यंत लोभी था। मिथ्यात्व से अंधे बने हुए उस नंद ने विरोचन नामक अपने ब्राह्मण मंत्री की प्रेरणा से कलिंग देश का नाश किया और तीर्थस्वरूप कुमार पर्वत पर श्रेणिक राजा के बनवाए हुए ऋषभदेव प्रासाद का नाश कर वह उसमें से ऋषभदेव की सुवर्णमयी प्रतिमा को उठाकर पाटलिपुत्र में ले गया।

महावीर-निर्वाण से १५४ वर्ष बीतने के बाद चाणक्य से प्रेरित मौर्यपुत्र चंद्रगुप्त नवें नंद राजा को पाटलिपुत्र से निकालकर मगध का राजा हुआ। चंद्रगुप्त पहले जैन श्रमणों का द्वेषी बौद्ध धर्मी था पर पीछे से चाणक्य के समझाने पर वह जैन धर्म का दृढ़ श्रद्धावान् श्रावक हो गया था।

अति पराक्रमी **चंद्रगुप्त** ने **सिलीकूस** नामक यवन राजा के साथ मित्रता करके अपने राज्य का विस्तार किया और अपने राज्य में **मौर्य संवत्सर** स्थापित किया।

भगवान् **महावीर** से १८४ वर्ष व्यतीत होने पर **चंद्रगुप्त** का स्वर्गवास हुआ और उसका पुत्र **बिंदुसार पाटलिपुत्र** के राज्यासन पर बैठा। **बिंदुसार** भी जैनधर्म का आराधक परम श्रावक था। उसने २५ वर्ष तक राज्य किया और वीर निर्वाण से २०९ वर्ष के बाद वह धर्मी राजा स्वर्गवासी हुआ।

निर्वाण से २०९ वर्ष के अंत में **बिंदुसार** का पुत्र **अशोक पाटलिपुत्र** के राज्यासन पर बैठा। **अशोक** पहले जैन-धर्म का अनुयायी था, पर राज्यप्राप्ति से ४ वर्ष के बाद उसने बौद्धधर्म का पक्ष किया,[1] और अपना नाम "प्रियदर्शी"[2] रखकर वह बौद्ध धर्म की आराधना में तत्पर हुआ।

अशोक बड़ा पराक्रमी राजा था। उसने अपने अतुल पराक्रम से पृथिवीमंडल को जीतकर **कलिंग, महाराष्ट्र, सौराष्ट्र** आदि देशों को अपने अधीन किया और वहाँ बौद्ध धर्म का विस्तार करके अनेक बौद्ध विहारों की स्थापना की; **पश्चिम पर्वत** तथा **विंध्याचल** आदि में बौद्ध श्रमण-

---

(१) **महावंश** आदि बौद्धग्रंथों से भी इस बात की पुष्टि होती है। वहाँ लिखा है कि ३ वर्ष तक **अशोक** अन्यान्य दर्शनों को मानता रहा और पीछे से वह बौद्धधर्मी हो गया।

(२) अशोक के प्रसिद्ध शिलालेखों में सर्वत्र इस "प्रियदर्शी" नाम का ही व्यवहार किया गया है। केवल 'मस्की' के एक शिला-लेख में "देवानंपियस असोकस" इस प्रकार 'अशोक' नाम का व्यवहार किया गया है।

श्रमणियों को चातुर्मास्य में रहने के लिये अनेक गुफाएँ खुदवाई और विविध आसनोंवाली बुद्ध की मूर्तियाँ उनमें स्थापित कीं। **गिरनार** आदि अनेक स्थानों में **अशोक** ने अपने नाम से अंकित आज्ञालेख **स्तूप** तथा खडकों पर खुदवाए; **सिंहल द्वीप, चीन,** तथा **ब्रह्मदेश** आदि द्वीपों में बौद्ध धर्म का प्रचार करने के विचार से **पाटलिपुत्र** में बौद्ध श्रमणों की सभा की और उस सभा की सम्मति के अनुसार राजा **अशोक** ने अनेक बौद्ध श्रमणों को वहाँ (सिंहलादि द्वीपों में) भेजा। **अशोक** जैनधर्म के निर्ग्रंथ-निर्ग्रंथियों का भी सम्मान करता, पर उनका द्वेष कभी नहीं करता था।

अशोक के अनेक पुत्र थे। उनमें **कुणाल** नामक पुत्र राज्य के योग्य था। वह भावी राजा होने की संभावना से अपनी सौतेली माताओं की आँखों का काँटा था, इसलिये **अशोक** ने उसको अपने मंत्रियों के साथ **उज्जयिनी** नगरी में रखा, पर वहाँ पर भी सौतेली माँ के षड्यंत्र से **कुणाल** अंधा हो गया। यह वृत्तांत सुनकर **अशोक** बहुत क्रुद्ध हुआ और उसने उस प्रपंची रानी तथा कतिपय नालायक राजकुँवरों को मरवा डाला और पीछे से **कुणाल** के पुत्र **संप्रति** को अपने राज्य का उत्तराधिकारी बनाया। **महावीर-निर्वाण** से २४४ वर्ष के बाद **अशोक** परलोकवासी हुआ।

संप्रति पाटलिपुत्र में राज्याभिषिक्त हुआ, पर वहाँ रहने में अपने विरोधियों की ओर से शंकित होकर उसने राजधानी **पाटलिपुत्र** का त्याग किया और अपने बाप को जागीर में मिली हुई **उज्जयिनी** में आकर वह सुखपूर्वक राज्य करने लगा।"

इसके बाद थेरावलीकार ने **संप्रति** का पूर्वभव-संबंधी वृत्तांत और आर्य **सुहस्ती** द्वारा उसके जैन धर्म स्वीकार करने का हाल लिखा है, जो अति प्रसिद्ध होने से यहाँ नहीं लिखा जाता है। **संप्रति** ने जैनधर्म के प्रचारार्थ जो काम किया उसका वर्णन थेरावली के ही शब्दों में नीचे दिया जाता है—

"आचार्यजी (आर्य **सुहस्ती** जी) ने कहा—हे राजन् ! अब तुम प्रभावनापूर्वक फिर जैन धर्म का आराधन करो जिससे भविष्य में वह तुम्हें स्वर्ग और मोक्ष देने में समर्थ हो।

आचार्य का उपदेश सुनकर राजा ने **उज्जयिनी** में साधु-साध्वियों की बृहत् सभा की और अपने राज्य में जैन धर्म का प्रचार करने के निमित्त अनेक गाँव नगरों में उपदेशक साधुओं को विहार करवाया; यही नहीं, अनार्य देशों में भी उसने जैनधर्म का प्रचार करवाया और अनेक जिन-मंदिर तथा प्रतिमाओं से पृथिवी को अलंकृत कर दिया।

महावीर-निर्वाण से २९३ वर्ष पूरे हुए तब जैन धर्म का परम उपासक राजा **संप्रति** स्वर्गवासी हुआ।

महावीर-निर्वाण से २४६ वर्षों के बाद **अशोक** का पुत्र **पुण्यरथ पाटलिपुत्र** का राजा हुआ।[1] यह राजा बौद्ध धर्म का आराधक था।

---

(१) यह **पुण्यरथ** और पुराणों का **दशरथ** एक ही व्यक्ति है। **दशरथ** के नाम के तीन शिलालेख **खलतिक** पर्वत पर आजीविक साधुओं को गुफाओं का दान करने के संबंध में लिखे हुए मिले हैं उनसे भी यह मालूम होता है कि **प्रियदर्शि** (अशोक) के बाद पाटलिपुत्र में **दशरथ** का राज्याभिषेक हुआ था। (देखो आगे का लेख।)

राजा पुण्यरथ महावीर निर्वाण से २८० व के बाद अपने पुत्र वृद्धरथ[1] को राज्य देकर परलोकवासी हुआ।

बौद्ध धर्म के अनुयायी राजा वृद्धरथ को मारकर उसका सेनापति पुष्यमित्र महावीर-निर्वाण से ३०४ वर्ष के बाद पाटलिपुत्र के राज्यासन पर बैठा।"

राजा खारवेल और उसका वंश

पाटलिपुत्रीय मौर्य्य राज्य-शाखा को पुष्यमित्र तक पहुँचाने के बाद थेरावलीकार ने कलिंग देश के राजवंश का वर्णन दिया है। हाथीगुंफा के लेख से कलिंग चक्रवर्ती खारवेल का तो थोड़ा बहुत परिचय विद्वानों को अवश्य है, पर उसके वंश और उसकी संतति के विषय में अभी तक कुछ भी प्रामाणिक निर्णय नहीं हुआ था। हाथीगुंफा के लेख के "चेतवसवधनस" इस उल्लेख से कोई कोई विद्वान् खारवेल को "चैत्रवंशीय" समझते थे, तब कोई उसे "चेदिवंश" का राजा कहते थे। हमारे प्रस्तुत थेरावलीकार ने इस विषय को बिलकुल स्पष्ट कर दिया है। थेरावली के लेखानुसार खारवेल न तो चैत्रवंश्य था और न चेदिवंश्य; वह तो "चेटवंश्य" था; क्योंकि वह वैशाली के प्रसिद्ध राजा चेटक के पुत्र कलिंगराज शोभनराय की वंश-परंपरा में जन्मा था।

अजातशत्रु के साथ की लड़ाई में चेटक के मरने पर उसका पुत्र शोभनराय वहाँ से भागकर किस प्रकार

"लहियका कुभा दपलथेन देवानं प्रियेना इ नंतलियं अभिषितेना [आजीविकेहि] भदंतेहि वाष निषिदियाये निषिवे"।

(प्रियदर्शि प्रशस्तयः, टिप्पणविभाग, पृष्ठ ३८)

(१) पुराणों में इसका नाम "बृहद्रथ" मिलता है।

कलिंगराज के पास गया और **कलिंग** का राजा हुआ इत्यादि वृत्तांत थेरावली के शब्दों में ही नीचे लिख देते हैं। विद्वान् लोग देखेंगे कि कैसी अपूर्व घटना है।

"**वैशाली** का राजा **चेटक** तीर्थंकर **महावीर** का उत्कृष्ट श्रमणोपासक था। **चंपा नगरी** का अधिपति राजा **कोणिक**, जो कि **चेटक** का भानजा था, (अन्य श्वेतांबर जैन संप्रदाय के ग्रंथों में **कोणिक** को **चेटक** का दोहिता लिखा है) **वैशाली** पर चढ़ आया और उसने लड़ाई में **चेटक** को हरा दिया। लड़ाई में हारने के बाद अन्न-जल का त्याग कर राजा **चेटक** स्वर्गवासी हुआ। **चेटक** का **शोभनराय** नाम का एक पुत्र वहाँ से (वैशाली नगरी से) भागकर अपने श्वशुर **कलिंगाधिपति सुलोचन** की शरण में गया। **सुलोचन** के पुत्र नहीं था इसलिये अपने दामाद **शोभनराय** को **कलिंग देश** का राज्यासन देकर वह परलोकवासी हुआ।

भगवान् **महावीर** के निर्वाण के बाद १८ वर्ष बीतने पर **शोभनराय** का **कलिंग** की राजधानी **कनकपुर** में राज्याभिषेक हुआ। **शोभनराय** जैन धर्म का उपासक था। वह **कलिंग देश** में तीर्थस्वरूप **कुमारपर्वत** पर यात्रा करके उत्कृष्ट श्रावक बन गया।

शोभनराय के वंश में पाँचवीं पीढ़ी में **चंडराय** नामक राजा हुआ जो **महावीर** के निर्वाण से १४९ वर्ष बीतने पर **कलिंग** के राज्यासन पर बैठा था।

चंडराय के समय में **पाटलिपुत्र** नगर में आठवाँ नंद राजा राज्य करता था, जो मिथ्याधर्मी और अति लोभी था। वह **कलिंग** देश को नष्ट भ्रष्ट करके तीर्थस्वरूप

कुमारगिरि पर श्रेणिक के बनवाए हुए जिन-मंदिर को तोड़ उसमें रखी हुई ऋषभदेव की सुवर्णमयी प्रतिमा को उठाकर पाटलिपुत्र में ले आया। इसके बाद शोभन-राय की ८वीं पीढ़ी में खेमराज[1] नामक कलिंग का राजा हुआ। वीर निर्वाण के बाद जब २२७ वर्ष पूरे हुए तब कलिंग के राज्यासन पर खेमराज का अभिषेक हुआ और निर्वाण से २३९ वर्ष बीतने पर मगधाधिपति अशोक ने कलिंग पर चढ़ाई की[2] और वहाँ के राजा खेमराज को अपनी आज्ञा मनाकर वहाँ पर उसने अपना गुप्त संवत्सर चलाया।[3]

---

(१) हाथीगुंफावाले खारवेल के शिलालेख में भी पंक्ति १६ वीं में 'खेमराजा स" इस प्रकार खारवेल के पूर्वज के तौर से खेमराज का नामोल्लेख किया है।

(२) कलिंग पर चढ़ाई करने का जिक्र अशोक के शिलालेख में भी है। पर वहां पर अशोक के राज्याभिषेक के आठवें वर्ष के बाद कलिंग विजय का उल्लेख है। राज्यप्राप्ति के बाद ३ अथवा ४ वर्ष पीछे अशोक का राज्याभिषेक हुआ मान लेने पर कलिंग का युद्ध अशोक के राज्य के १२-१३ वें वर्ष में आयगा। थेरावली में अशोक की राज्यप्राप्ति निर्वाण से २०९ वर्ष के बाद लिखी है। अर्थात् २१० में इसे राज्याधिकार मिला और २३९ में उसने कलिंग विजय किया। इस हिसाब से कलिंग विजयवाली घटना अशोक के राज्य के ३० वें वर्ष के अंत में आती है, जो कि शिलालेख से मेल नहीं खाती।

(३) अशोक के गुप्त संवत्सर चलाने की बात ठीक नहीं जँचती। मालूम होता है, थेरावली-लेखक ने अपने समय में प्रचलित गुप्त राजाओं के चलाए गुप्त संवत् को अशोक का चलाया हुआ मान लेने का धोखा खाया है। इसी उल्लेख से इसकी अति प्राचीनता के संबंध में भी शंका उत्पन्न होती है।

महावीर-निर्वाण से २७५ वर्ष के बाद क्षेमराज का पुत्र **वुड्ढराज**[1] कलिंग देश का राजा हुआ। **वुड्ढराज** जैनधर्म का परम उपासक था। उसने **कुमारगिरि** और **कुमारीगिरि** नामक दो पर्वतों पर श्रमण और निर्ग्रंथियों के चातुर्मास्य करने योग्य ११ गुफाएँ खुदवाई थीं।

भगवान् **महावीर** के निर्वाण को जब ३०० वर्ष पूरे हुए तब **वुड्ढराय** का पुत्र **भिक्खुराय कलिंग** का राजा हुआ।

भिक्खुराय के नीचे लिखे अनुसार तीन नाम कहे जाते हैं—

निर्ग्रंथ भिक्षुओं की भक्ति करनेवाला होने से उसका एक नाम "भिक्खुराय" था। पूर्वपरंपरागत "महामेघ" नामक हाथी उसका वाहन होने से उसका दूसरा नाम "**महामेघ वाहन**" था। उसकी राजधानी समुद्र के किनारे पर होने से उसका तीसरा नाम "**खारवेलाधिपति**" था।[2]

भिक्षुराज अतिशय पराक्रमी और अपनी हाथी आदि की सेना से पृथिवी-मंडल का विजेता था। उसने मगध देश के राजा **पुष्यमित्र** को[3] पराजित करके अपनी आज्ञा मनवाई। पहले **नंदराजा ऋषभदेव** की जिस प्रतिमा को उठा ले गया था उसे वह **पाटलिपुत्र**

---

(१) 'वुड्ढराज' का भी खारवेल के हाथीगुंफावाले लेख में "वुड्ढराजा स" इस प्रकार उल्लेख है।

(२) हाथीगुंफा के लेख मे भी भिक्षुराजा, महामेघवाहन और खारवेलसिरि इन तीनों नामों का प्रयोग खारवेल के लिये हुआ है।

(३) खारवेल के शिलालेख में भी मगध के राजा बृहस्पतिमित्र (पुष्यमित्र का पर्याय) को जीतने का उल्लेख है।

नगर से वापिस अपनी राजधानी में ले गया[1] और **कुमारगिरि** तीर्थ में **श्रेणिक** के बनवाए हुए जिन-मंदिर का पुनरुद्धार कराके आर्य **सुहस्ती** के शिष्य **सुप्रतिबुद्ध** नाम के स्थविरों के हाथ से उसे फिर प्रतिष्ठित कराकर उसमें स्थापित किया।

पहले जो बारह वर्ष तक दुष्काल पड़ा था उसमें आर्य **महागिरि** और आर्य **सुहस्तीजी** के अनेक शिष्य शुद्ध आहार न मिलने के कारण **कुमारगिरि** नामक तीर्थ में अनशन करके शरीर छोड़ चुके थे। उसी दुष्काल के प्रभाव से तीर्थंकरों के गणधरों द्वारा प्ररूपित बहुतेरे सिद्धांत भी नष्टप्राय हो गए थे, यह जानकर **भिक्खुराय** ने जैन-सिद्धांतों का संग्रह और जैन धर्म का विस्तार करने के लिये **संप्रति** राजा की नाईं श्रमण निर्ग्रंथ तथा निर्ग्रंथियों की एक सभा वहाँ **कुमारी पर्वत** नामक तीर्थ पर इकट्ठी की, जिसमें आर्य **महागिरिजी** की परंपरा के **बलिस्सह, बोधिलिंग, देवाचार्य, धर्मसेनाचार्य, नक्षत्राचार्य,** आदिक दो सौ जिनकल्प की तुलना करनेवाले जिनकल्पी साधु, तथा आर्य **सुस्थित**, आर्य **सुप्रतिबुद्ध, उमास्वाति, श्यामाचार्य** प्रभृति तीन सौ स्थविरकल्पी निर्ग्रंथ आए। आर्या **पोइणी** आदिक तीन सौ निर्ग्रंथी साध्वियाँ भी वहाँ इकट्ठी हुई थीं। **भिक्खुराय**, सीवंद, **चूर्णक**,

(१) नंदराज द्वारा ले जाई गई जिन-मूर्ति को कलिंग में वापिस ले जाने का हाथीगुंफा में इस प्रकार स्पष्ट उल्लेख है—

"नंदराजनीतं च कालिंग जिनं संनिवेसं ..गृह रतनान पडिहारे हि अंगमागध—वसुं च नेयाति [।]"

(हाथीगुंफा लेख पंक्ति १२, बिहार-ओरिसा जर्नल, वॉल्युम ४ भाग ४)।

सेलक आदि सात सौ श्रमणोपासक और भिक्खुराय की स्त्री पूर्णमित्रा आदि सात सौ श्राविकाएँ, भी उस सभा में उपस्थित थीं।

पुत्र, पौत्र और रानियों के परिवार से सुशोभित भिक्खुराय ने सब निर्ग्रंथों और निर्ग्रंथियों को नमस्कार करके कहा—"हे महानुभावो! अब आप वर्धमान तीर्थंकर प्ररूपित जैन धर्म की उन्नति और विस्तार करने के लिये सर्व शक्ति से उद्यमवंत हो जायँ"।

भिक्खुराय के उपर्युक्त प्रस्ताव पर सर्व निर्ग्रंथ और निर्ग्रंथियों ने अपनी सम्मति प्रकट की और भिक्खुराय से पूजित सत्कृत और सम्मानित निर्ग्रंथ और निर्ग्रंथियाँ मगध, मथुरा, वंग आदि देशों में तीर्थंकर-प्रणीत धर्म की उन्नति के लिये निकल पड़े।

उसके बाद भिक्खुराय ने कुमारगिरि और कुमारी-गिरि नामक पर्वतों पर जिन प्रतिमाओं से शोभित अनेक गुफाएँ खुदवाईं, वहाँ जिनकल्प की तुलना करनेवाले निर्ग्रंथ वर्षाकाल में कुमारी पर्वत की गुफाओं में रहते और जो स्थविरकल्पी निर्ग्रंथ होते वे कुमार पर्वत की गुफाओं में वर्षाकाल मे रहते। इस प्रकार भिक्खुराय ने निर्ग्रंथों के लिये विभिन्न व्यवस्था कर दी थी।

उपर्युक्त सर्व व्यवस्था से कृतार्थ हुए भिक्खुराय ने बलि-स्सह, उमास्वाति, श्यामाचार्यादिक स्थविरों को नमस्कार करके जिनागमों में मुकुट-तुल्य दृष्टिवाद अंग का संग्रह करने के लिये प्रार्थना की।

भिक्खुराय की प्रेरणा से पूर्वोक्त स्थविर आचार्यों ने अवशिष्ट दृष्टिवाद को श्रमण-समुदाय से थोड़ा थोड़ा एकत्र

कर भोजपत्र, ताड़पत्र और वल्कल पर अक्षरों से लिपिबद्ध करके **भिक्खुराय** का मनोरथ पूर्ण किया और इस प्रकार वे आर्य **सुधर्म**-रचित **द्वादशांगी** के संरक्षक हुए।

उसी प्रसंग पर **श्यामाचार्य** ने निर्ग्रंथ साधु साध्वियों के सुख बोधार्थ 'पन्नवणा सूत्र' की रचना की।[1]

स्थविर श्री **उमास्वातिजी** ने उसी उद्देश से निर्युक्ति सहित '**तत्वार्थ सूत्र**' की रचना की।[2]

स्थविर आर्य **बलिस्सह** ने **विद्याप्रवाद** पूर्व में से 'अंगविद्या' आदि शास्त्रों की रचना की।[3]

इस प्रकार जिनशासन की उन्नति करनेवाला **भिक्खुराय** अनेकविध धर्म कार्य करके **महावीर**-निर्वाण से ३३० वर्षों के बाद स्वर्गवासी हुआ।

भिक्खुराय के बाद उसका पुत्र **वक्रराय कलिंग** का अधिपति हुआ।[4]

वक्रराय भी जैनधर्म का अनुयायी और उन्नति करने-

---

(१) **श्यामाचार्य** कृत 'पन्नवणा सूत्र' अब तक विद्यमान है।

(२) **उमास्वाति** कृत 'तत्वार्थ सूत्र' और इसका स्वोपज्ञ भाष्य अभी तक विद्यमान है। यहाँ पर उल्लिखित 'निर्युक्ति' शब्द संभवतः इस भाष्य के ही अर्थ में प्रयुक्त हुआ जान पड़ता है।

(३) **अंगविद्या** प्रकीर्णक भी हाल तक मौजूद है। कोई नौ हजार श्लोक प्रमाण का यह प्राकृत गद्य पद्य में लिखा हुआ 'सामुद्रिक विद्या' का ग्रंथ है।

(४) **कलिंग** देश के **उदयगिरि** पर्वत की **मानिकपुर गुफा** के एक द्वार पर खुदा हुआ **वक्रदेव** के नाम का शिलालेख मिला है जो इसी **वक्रराय** का है। लेख नीचे दिया जाता है—

वाला था। धर्माराधन और समाधि के साथ यह वीर-निर्वाण से तीन सौ बासठ वर्ष के बाद स्वर्गवासी हुआ।

वक्रराय के बाद उसका पुत्र 'विदुहराय' कलिंग देश का अधिपति हुआ।[१]

विदुहराय ने भी एकाग्र चित्त से जैन धर्म की आराधना की। निर्ग्रंथ समूह से प्रशंसित यह राजा महावीर-निर्वाण से तीन सौ पंचानवे वर्ष के बाद स्वर्गवासी हुआ।''

उज्जयिनी की मौर्य राज्यशाखा

महान् राजा अशोक के बाद मौर्य्य राज्य के दो हिस्से हो जाने का विद्वानों का अनुमान है, इस अनुमान का इस थेरावली से भी समर्थन होता है। मगध के राजवंशों के निरूपण में संप्रति के प्रसंग मे कहा गया है कि संप्रति अपने विरोधियों के भय से पाटलिपुत्र को छोड़कर उज्जयिनी में चला गया था। उसी प्रसंग में यह भी कहा गया है कि निर्वाण से २४४ वर्षों के ऊपर अशोक का स्वर्गवास हुआ था और २४६ में पुण्यरथ (पुराणों का दशरथ) पाटलिपुत्र के राज्यासन पर बैठा था। इसका अर्थ यह है कि अशोक के बाद संप्रति पाटलिपुत्र का राजा

''वेरस महाराजस कलिंगाधिपतिना महामेघवाहन वक्रदेप सिरिनो लेणं''। (जिनविजय संपादित प्राचीन जैन लेखसंग्रह पृ० ४६।)

(१) उदयगिरि की मंचपुरीगुफा के सातवें कमरे में विदुराय के नाम का एक छोटा लेख है। उसमें लिखा है कि यह लयन [गुफा] 'कुमार विदुराय' की है।

लेख के मूल शब्द नीचे दिए जाते हैं—

''कुमार वदुरवस लेनं''

(एपिग्राफिका इंडिका जिल्द १३)

हुआ था पर विरोधियों से तंग आकर दो वर्ष के बाद उसके **उज्जयिनी** में चले जाने पर **पाटलिपुत्र** का सिंहासन **पुण्यरथ** (दशरथ) को मिला था।

संप्रति के स्वर्गवास पर्यंत का वृत्तांत पहले दिया जा चुका है, इसलिये यहाँ पर संप्रति के बाद के **मौर्य्य** राजाओं का जिक्र थेरावली के ही शब्दों में दिया जाता है—

"**उज्जयिनी** के राजा **संप्रति** के कोई पुत्र नहीं था इसलिये उसके मरने पर वहाँ का राज्यासन **अशोक** के पुत्र **तिष्यगुप्त** के पुत्र **बलमित्र** और **भानुमित्र** नामक राजकुमारों को मिला।

ये दोनों भाई जैन धर्म के उपासक थे। ये **वीर**-निर्वाण से २६४ वर्ष के बाद **उज्जयिनी** के राज्य पर बैठे और निर्वाण से ३५४ व के बाद स्वर्गवासी हुए।

इसके बाद **बलमित्र** का पुत्र **नभोवाहन** **उज्जयिनी** में राज्याभिषिक्त हुआ। **नभोवाहन** भी जैन-धर्मी था। वह निर्वाण से तीन सौ चौरानबे वर्ष के बाद स्वर्गवासी हुआ।

उसके बाद **नभोवाहन** का पुत्र **गर्दभिल्ल**—जो गर्दभी विद्या जाननेवाला था—**उज्जयिनी** के राज्यासन पर बैठा।"

इसी प्रसंग में **कालकाचार्य्य** का वृत्तांत, उनकी बहन **सरस्वती** साध्वी का **गर्दभिल्ल** द्वारा अपहार और लड़ाई करके साध्वी को छुड़ाने आदि का वृत्तांत दिया हुआ है जो अति प्रसिद्ध होने से यहाँ पर नहीं लिखा जाता है। हाँ, यहाँ पर एक बात विशेष है, सब चूर्णियों और **कालक**-

कथाओं में यह लिखा गया है कि **कालक** ने '**पारिसकुल** में जाकर वहाँ के **साहि** अथवा **शाखि** नामधारी ९६ राजाओं को **हिंदुस्तान** में लाकर **गर्दभिल्ल** के ऊपर चढ़ाई करवाई', तब इसमें इस प्रसंग में इतना ही कहा है कि '**सिंधु देश** में **सामंत** नामक शक राजा राज्य करता था, उसके पास **कालक** गए और उसे **उज्जयिनी** पर चढ़ा लाए।' इस लड़ाई में **गर्दभिल्ल** मारा जाता है, **उज्जयिनी** पर **शक राजा** अधिकार करता है और **सरस्वती** को फिर दीक्षा देकर **कालक भरोच** की तरफ विहार करते हैं। कालांतर मे **गर्दभिल्ल** का पुत्र **विक्रमादित्य शक राजा** को जीत कर **उज्जयिनी** का राज्य अपने हाथ मे कर लेता है, यह बात थेरावली के शब्दों में नीचे लिखी जाती है।

"उसके बाद **गर्दभिल्ल** का पुत्र **विक्रमार्क शक राजा** को जीतकर **महावीर**-निर्वाण से चार सौ दस वर्ष बीतने पर उज्जयिनी के राज्यासन पर बैठा।

विक्रमार्क अति पराक्रमी, जैनधर्म का आराधक और परोपकारनिष्ठ होने से अत्यंत लोकप्रिय हो गया।"

यहाँ पर **विक्रमार्क**-राज्यारंभ **वीर**-निर्वाण संवत् ४१० के अंत में लिखा है और **मेरुतुंग** की विचार-श्रेणि आदि के अनुसार **विक्रमादित्य** ने ६० वर्ष तक राज्य किया था, इस हिसाब से **विक्रमादित्य** का मरण निर्वाण से ४७० वर्ष के बाद हुआ। आचार्य **देवसेन**, **अमितगति** आदि जो **विक्रम मृत्युसंवत्** का उल्लेख करते हैं उसका खुलासा इस लेख से स्वयं हो जाता है। **वीर** और **विक्रम** का अंतर तो ४७० वर्ष का ही है पर प्रस्तुत परंपरा के अनुसार

यह अंतर **महावीर** के निर्वाण और **विक्रम** के मरण का है, तब अन्य गणना-परंपराओं में यह अंतर **वीर**-निर्वाण और **विक्रम** राज्यारोहण का अथवा **विक्रम** संवत्सर-प्रवृत्ति का माना गया है।

प्रस्तुत थेरावली की गणना के अनुसार **महावीर**-निर्वाण से **विक्रम**-राज्यारंभ तक के ४१० वर्षों का हिसाब नीचे के विवरण से ज्ञात होगा।

निर्वाण के बाद

कोणिक तथा उदायी[1]	६०
नवनंद	९४
चंद्रगुप्त	३०
बिंदुसार	२५
अशोक	३५
संप्रति[2]	४९
०	१
बलमित्र-भानुमित्र	६०
नभोवाहन	४०
गर्दभिल्ल तथा शक	१६
	———
	४१०

---

(१) तित्थोगाली पइन्नय की गणना में ६० वर्ष **पालक** के लिये हैं, पर इसमें **पालक** का कहीं भी नाम-निर्देश नहीं है।

(२) **संप्रति** २९३ के बाद स्वर्ग गया और २९४ के बाद **बलमित्र भानुमित्र** राजा हुए। इससे मालूम होता है, बीच में १ वर्ष तक कोई राजा नहीं रहा होगा—अराजकता रही होगी।

विक्रमादित्य के राज्य प्रारंभ का उल्लेख करके थेरा-वलीकार ने राज-प्रकरण को छोड़ दिया है और आर्य **महा-गिरि** से लेकर आर्य **स्कंदिल** तक के स्थविरों का ९ गाथाओं से वंदन किया है। ये गाथाएँ **नंदी थेरावली** की "एलावच्चसगुत्तं" इस गाथा से लेकर "जेसि इमो अणुओगो" यहाँ तक की गाथाओं से अभिन्न होंगी, ऐसा इसके भाषांतर से ज्ञात होता है।

आगे इन्हीं गाथाओं का सार गद्य में दिया है जैसा कि **नन्दीचूर्णिकार** ने दिया है, इसलिए इसकी चर्चा करने की कोई जरूरत नहीं है। इसमे जो विशेष हकीकत है उसका वर्णन थेरावली के ही शब्दों मे नीचे दिया जाता है।

"आर्य **रेवती नक्षत्र** के आर्य **सिंह** नामक शिष्य हुए, जो **ब्रह्मद्वीपक सिंह** के नाम से प्रसिद्ध थे। स्थविर आर्य **सिंह** के दो शिष्य हुए—**मधुमित्र** और आर्य **स्कंदिल**। आर्य **मधुमित्र** के आर्य **गंधहस्ती** नामक बड़े प्रभावक और विद्वान् शिष्य हुए। पूर्व काल मे महास्थविर **उमा-स्वाति** वाचक ने जो **तत्त्वार्थसूत्र** नामक शास्त्र रचा था उस पर आर्य **गंधहस्ती** ने ८०००० श्लोक प्रमाणवाला महा-भाष्य बनाया। इतना ही नहीं, स्थविर आर्य **स्कंदिलजी** के आग्रह से **गंधहस्ती**जी ने ग्यारह **अंगों** पर टीका रूप विवरण भी लिखे, इस विषय में **आचारांग** के विवरण के अंत में लिखा है कि—

"**मधुमित्र** नामक स्थविर के शिष्य तीन पूर्वों के ज्ञाता मुनियों के समूह से वंदित, रागादि-दोष-रहित ॥ १ ॥ और **ब्रह्मद्वीपिक** शाखा के मुकुट समान आचार्य **गंधहस्ती** ने

विक्रमादित्य के बाद २०० वर्ष बीतने पर यह (**आचारांग** का) विवरण बनाया।"

आर्य स्कंदिल

थेरावली के अंत में आर्य **स्कंदिल** का वृत्तांत और उनके किए हुए सिद्धांतोद्धार का वर्णन दिया है, पाठकगण के अवलोकनार्थ यह वर्णन भी हम थेरावली के ही शब्दों में नीचे उद्धृत करते हैं—

" अब आर्य **स्कंदिलाचार्य्य** का वृत्तांत इस प्रकार है— उत्तर **मथुरा** में **मेघरथ**[1] नामक उत्कृष्ट श्रमणोपासक और जिनाज्ञा-प्रतिपालक ब्राह्मण था, उसके **रूपसेना** नाम की शीलवती स्त्री थी और **सोमरथ** नामक पुत्र था।

एक बार **ब्रह्मद्वीपिका** शाखा के आचार्य **सिंह** स्थविर विहार-क्रम से **मथुरा** मे पधारे और उनके उपदेश से वैराग्य पाकर ब्राह्मण **सोमरथ** ने उनके पास दीक्षा ली।

उस अवसर मे आधे भारतवर्ष मे बारह वर्ष का भयंकर दुष्काल पड़ा जिसके प्रभाव से भिक्षा न मिलने के कारण कितने ही जैन निर्ग्रंथ **वैभार पर्वत** तथा **कुमारगिरि** आदि तीर्थों में अनशन करके स्वर्गवासी हो गए। उस समय जिनशासन के आधारभूत पूर्व संगृहीत ग्यारह **अंग** नष्टप्राय हो गए। पीछे से दुष्काल का अंत होने पर **विक्रम** संवत् १५३ में स्थविर आर्य **स्कंदिल** ने **मथुरा** में जैन निर्ग्रंथों की सभा एकत्र की। सभा में स्थविरकल्पी **मधुमित्राचार्य्य** तथा आर्य **गंधहस्ती**

---

(१) प्राचीन जैन ग्रंथकार आजकल की 'मथुरा' को उत्तर मथुरा कहते थे और दक्षिण देश की आधुनिक ' मदुरा ' को दक्षिण मथुरा।

प्रभृति १२५ निर्ग्रंथ एकत्र हुए। उस समय उन निर्ग्रंथों के अवशेष मुख-पाठों (कंठस्थ पाठों) को मिलाकर आचार्य **गंधहस्ती** आदि स्थविरों की सम्मतिपूर्वक आर्य **स्कंदिलजी** ने ग्यारह **अंगों** की संकलना की और स्थविरप्रवर **स्कंदिल** की प्रेरणा से आचार्य **गंधहस्ती** ने **भद्रबाहु निर्युक्ति** के अनुसार उन ग्यारह **अंगों** पर विवरणों की रचना की। तब से सर्व सूत्र भारतवर्ष में **माथुरी वाचना** के नाम से प्रसिद्ध हुए।

मथुरा-निवासी ओशवालवंश-शिरोमणि श्रावक **पोलाक** ने **गंधहस्ती** विवरण सहित उन सर्व सूत्रों को ताड़पत्र आदि में लिखवाकर पठन-पाठन के लिये निर्ग्रंथो को अर्पण किया। इस प्रकार जैनशासन की उन्नति करके स्थविर आर्य **स्कंदिल विक्रम** संवत् २०२ में **मथुरा** में ही अनशन करके स्वर्गवासी हुए।"

आर्य **स्कंदिल** के वृत्तांत के साथ ही इस थेरावली की समाप्ति होती है। इसमे जिन जिन विशेष बातों का वर्णन है उनका यथास्थान उल्लेख किया जा चुका है।

इस थेरावली में जो गणना-पद्धति दी है वह कहाँ तक ठीक है, यह कहना कठिन है। हाँ, इतना अवश्य कहना पड़ेगा कि यह पद्धति भी है प्राचीन। आचार्य **देवसेनादि** ने **विक्रम** मृत्यु संवत् का जो निर्देश किया है उसका बीज इसी गणना-पद्धति में संनिहित है, यह पहले कहा जा चुका है।

हमने "वीर निर्वाण संवत् और जैन कालगणना" नामक निबंध में और उसके टिप्पण में जिन जिन बातों की चर्चा की है उनमें से कतिपय बातों का इस थेरावली से समर्थन होता

है और कतिपय का खंडन भी, तो भी जब तक इस थेरावली की मूल पुस्तक परीक्षा की कसौटी पर चढ़ाकर प्रामाणिक नहीं ठहराई जाती, इसके उल्लेखों से चिंतित विषय में रद्दो-बदल करना उचित नहीं है। वस्तुतः हमारी गणना से वीर निर्वाण संवत् विषयक जो मुख्य सिद्धांत स्थापित होता है उसका, यह गणना भी वीर और विक्रम का मृत्यु-अंतर ४७० वर्ष का बताकर समर्थन ही कर रही है। अस्तु।

थेरावली मे जो जो नई बातें दृष्टिगोचर हुई हैं उनकी सत्यता के विषय मे हमे अधिक संशय करने की आवश्यकता नहीं है। इनमें से कतिपय घटनाओं का तो पुराने से पुराने शिलालेखों और ग्रंथों से भी समर्थन होता है। श्रेणिक और कोणिक के जैन होने की बात जैनसूत्रों में प्रसिद्ध है, इनके द्वारा कलिंग के तीर्थरूप पर्वत पर जिन-प्रासाद और स्तूपों का बनना कोई आश्चर्य का विषय नहीं है। नंद राजा द्वारा कलिंग से जिन-प्रतिमा का पाटलिपुत्र में ले जाना और वहाँ से खारवेल द्वारा उसका फिर कलिंग में ले आना खारवेल के लेख से ही सिद्ध है। कुमारी पर्वत पर खारवेल के कराए हुए धार्मिक कार्य[1] तथा अंग सूत्रों के

---

(१) खारवेल के, अपने राज्य के तेरहवें वर्ष में, कुमारी पर्वत (उदयगिरि) की निषद्याओं (स्तूपों) में रहनेवालों के लिये राज्य की तरफ से आय बाँधने के संबंध में इस प्रकार उल्लेख है—

"तेरसमे च वसे सुपवत विजयिचके कुमारी पवते अरहितेय [।] प—खिमव्यसंताहि काय्यनिसीदीयाय यापजावकेहि राजभितिनि चिन-वतानि वो सासितानि वो सासितानि [।] पूजनि कत—उवासा खारवेल सिरिना जीवदेवसिरिकल्पं राखिता [।]" (बि० ओ० प० पु० ४ भा० ४)

उद्वार का उल्लेख भी खारवेल के ही लेख में पाया जाता है[१]। खारवेल के पुत्र वक्रराय और पौत्र विदुहराय के नाम भी कलिंग के उदयगिरि पर्वत की गुफा में पाए गए हैं और खारवेल के आदि-पुरुष चेटक का नाम भी उसके लेख के प्रारंभ मे दृष्टिगत हो रहा है।

मौर्य्यराज्य की दो शाखा होने के संबंध मे पुरातत्त्वज्ञों ने पहले ही अनुमान कर लिया था, जिसको थेरावली के लेख से समर्थन मिला है। स्कंदिलाचार्य के सिद्धांतोद्धार का उल्लेख नंदीचूर्णि आदि अनेक प्राचीन ग्रंथों मे मिलता ही है, गंधहस्ती के सूत्र विवरणों के अस्तित्व का साक्ष्य शीलांक की आचारांग टीका दे रही है[२] और उनकी तत्त्वार्थ-भाष्य रचना के विषय में भी अनेक मध्यकालीन

---

(१) हाथीगुंफा लेख की १६वीं पंक्ति में अंगों का उद्वार करने के संबंध में उल्लेख है, ऐसा विद्यावारिधि के० पी० जायसवालजी का मत है। आपके वाचनानुसार वह उल्लेख इस प्रकार है—

"मुरियकालवोछिंनं च चोयट्टि-अंग सतिक तुरियं उपदियति [।]" अर्थात् मौर्य्यकाल मे विच्छेद हुए चोसट्टि (चौसठ अध्यायवाले) अंगसत्तिक का चौथा भाग फिर से तैयार करवाया।

पर मैं इस स्थल को इस प्रकार पढ़ता हूँ—

"मुरियकाले वोछिंने च चोयट्ठिअग-सतिके तुरियं उपादयति [।]" अर्थात् मौर्यकाल के १६४ वर्ष के बीतने पर तुरंत (खारवेल ने) उपयुक्त कार्य किया।

(२) गंधहस्तिकृत सूत्रविवरण अब किसी जगह नहीं मिलते, संभवतः वे सदा के लिये लुप्त हो गए हैं; पर ये विवरण किसी समय विद्वद्भोग्य साहित्य में गिने जाते थे इसमें कोई संदेह नहीं है। विक्रम की दशवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की कृति आचारांग टीका में उसके कर्ता शीलाचार्य गंधहस्तिकृत विवरण का उल्लेख इस प्रकार करते हैं—

ग्रंथकारों ने उल्लेख किए हैं[1] इसलिये इस थेरावली में वर्णित खास घटनाओं की सत्यता के संबंध में शंका करने का हमें कोई अवसर नहीं है। हाँ, इसमें यदि कुछ शंकनीय स्थल हो तो वह घटनावली का सत्ता-समय हो सकता है। इसमे अनेक घटनाओं के अतिरिक्त अनेक राजाओं और आचार्यों की सत्ता और उनके स्वर्गवास के सूचक जो संवत्सर दिए हुए हैं उनमे कतिपय संवत्सर अवश्य ही चिंतनीय हैं, पर जब तक थेरावली की मूल प्रति हस्तगत नहीं होती, इस विषय की समालोचना करना निरर्थक है।

विद्वानों के विचारार्थ नीचे हम उन घटनाओं की सूची देते हैं जिनका सत्ता-समय थेरावली में स्पष्ट लिखा गया है।

"शस्त्रपरिज्ञाविवरणमतिबहुगहनं च गंधहस्तिकृतम्।
तस्मात् सुखबोधार्थं, गृह्णाम्यहमञ्जसा सारम् ॥३॥"
(कलकत्तामुद्रित आचारांग टीका)

उपर्युक्त पद्य में केवल आचारांग सूत्र के एक अध्ययन-'शस्त्र-परिज्ञा' के विवरण का उल्लेख होने से यह भी कल्पना हो सकती है कि शायद शीलाचार्य के समय तक गंधहस्ति कृत विवरण छिन्न भिन्न हो चुके होंगे। इसी कारण से शीलांक को अंगों की नई टीकाएँ लिखने की जरूरत महसूस हुई होगी।

(१) गंधहस्ति कृत तत्वार्थभाष्य के संबंध में मध्यकालीन साहित्य में कहीं कहीं उल्लेख है पर इस भाष्य का कहीं भी पता नहीं है। धर्मसंग्रहणी टीका आदि में "यदाह गंधहस्ती—प्राणापानौ उच्छ्वासनिश्वासौ।" इत्यादि गंधहस्ती के ग्रंथ के प्रतीक भी दिए हुए मिलते है, पर इस समय गंधहस्ति कृत कोई भी ग्रंथ उपलब्ध नहीं होता।

घटनावली

वीर-गताब्द ० * गौतम इंद्रभूति को केवलज्ञान हुआ।
" " १२* गौतम इंद्रभूति का निर्वाण।
" " १८ शोभनराय का कलिंग के राज्यासन पर आरोहण।
" " २०* आर्य सुधर्मा का निर्वाण।
" " ३१ उदायी ने पाटलिपुत्र नगर को बसाया।
" " ६०* नंद राजा का पाटलिपुत्र में राज्याभिषेक।
" " ६४* मतांतर से आर्य जंबू का निर्वाण।
" " ७० आर्य जंबू का निर्वाण।
" " ७०* रत्नप्रभ सूरि द्वारा उपकेश वंश स्थापना।
" " ७५* आर्य प्रभव का स्वर्गवास।
" " ९८* आर्य शय्यंभव का स्वर्गवास।
" " १४८* आर्य यशोभद्र का स्वर्गवास।
" " १४९ चंडराय का कलिंग में राज्याभिषेक।
" " १४९ आठवें नंद की कलिंग देश पर चढ़ाई।
" " १५४* चंद्रगुप्त मगध का राजा बना।
" " १५६* आर्य संभूतिविजयजी का स्वर्गवास।
" " १७०* आर्य भद्रबाहु स्वामी का स्वर्गवास।
" " १८४ सम्राट् चंद्रगुप्त का स्वर्गवास।
" " १८४ बिंदुसार का राज्याधिकार।
" " २०९ बिंदुसार का स्वर्गगमन।

वीर-गताब्द		२०९	**अशोक** का राज्यारंभ।
”	”	२२७	**क्षेमराज** का **कलिंग** में राज्यारोहण।
”	”	२३९	**अशोक** राजा की **कलिंग** पर चढ़ाई।
”	”	२४४	**अशोक** का परलोकवास।
”	”	२४४	**संप्रति** का **पाटलिपुत्र** में राज्याधिकार।
”	”	२४६	**संप्रति** का **उज्जयिनी** को जाना।
”	”	२४६	**पाटलिपुत्र** में **पुण्यरथ** का राज्याधिकार।
”	”	२७५	**बुड्ढराज** का **कलिंग** में राज्यारोहण।
”	”	२८०	**पुण्यरथ** का मरण।
”	”	२८०	**वृद्धरथ** का **पाटलिपुत्र** में राज्याभिषेक।
”	”	२९३*	**संप्रति** का स्वर्गवास।
”	”	२९३	**उज्जयिनी** में एक वर्ष तक अराजकता।
”	”	२९४	**बलमित्र-भानुमित्र** का **उज्जयिनी** में राज्यारोहण।
”	”	३००	**भिक्खुराय** (खारवेल) का राज्याभिषेक।
”	”	३०४	**वृद्धरथ** की हत्या।
”	”	३०४	**पाटलिपुत्र** पर **पुष्यमित्र** का अधिकार
”	”	३३०	**भिक्खुराय** का स्वर्गवास।
”	”	३३०	**वक्रराय** का राज्याभिषेक।
”	”	३५४	**बलमित्र-भानुमित्र** का मरण।
”	”	३५४	**नभोवाहन** की राज्यप्राप्ति।

वीर-गताब्द ३६२ **वक्रराय** का स्वर्गवास।
" " ३६२ **विदुहराय** का राज्याधिकार।
" " ३९४ **नभोवाहन** का स्वर्गगमन।
" " ३९४ **गर्दभिल्ल** का राज्याधिकार।
" " ३९५ **विदुहराय** का परलोकवास।
" " ४१० **विक्रमार्क** का **उज्जयिनी** में राज्याभिषेक।
विक्रम-गताब्द १५३ आर्य **स्कंदिल** की प्रमुखता में जैन श्रमणों की **मथुरा** में सभा हुई।
" " २०० **गंधहस्ती** ने **आचारांग** का विवरण रचा।
" " २०२ **स्कंदिलाचार्य** का **मथुरा** में स्वर्गवास[1]।

उपसंहार

हिमवंत थेरावली की खास ज्ञातव्य बातों का दिग्दर्शन करा दिया। इनमे कई बातें ऐसी हैं जो अधिक खोज और विवेचन की अपेक्षा रखती हैं। यदि मूल थेरावली उपलब्ध हो गई और अपेक्षित समय मिला तो इनके संबंध में स्वतंत्र निबंध लिखेंगे—इस विचार के साथ यह लेख यहीं पूरा किया जाता है।

---

१ इस घटनावली में जिस जिस घटना का समय * इस चिह्न से चिह्नित है उसका पट्टावली, थेरावली आदि अन्य ग्रंथों से भी समर्थन होता है, पर जिस घटनाकाल के आगे उक्त चिह्न नहीं है उसका सिर्फ इसी थेरावली में उल्लेख है—ऐसा समझना चाहिए।

(४) बौद्ध धर्म के रूपांतर

[लेखक—श्रीमथुरालाल शर्मा एम० ए०]

अपने सामर्थ्य को परिमित समझना और अज्ञात की खोज करना मानव-बुद्धि का नैसर्गिक गुण है और इससे धर्म का आविर्भाव होता है। अज्ञात शक्ति के स्वरूप का चिंतन और तदनुकूल बाह्य आचरण यह धर्म के दो मुख्य अंग हैं। विकास पाकर ये ही ज्ञानकांड और कर्मकांड, या दर्शन तथा क्रिया का रूप धारण करते हैं।

बुद्धि, रुचि, परिस्थिति तथा काल-भेद के कारण मनुष्य के अज्ञात-चिंतन के फल में भिन्नता होती है। यही कारण है कि मिस्र, यूनान, मेसोपोटामिया, ईरान, चीन तथा भारत के प्राचीन लोगों ने उस अलौकिक शक्ति का स्वरूप जुदा जुदा निश्चित किया था। इसी कारण कहीं वनस्पति तथा पशुओं की उपासना होती है और कहीं पुरोहित, राजा या भयंकर देव-देवी की पूजा। इसी कारण प्रत्यक्ष में निर्विवाद दार्शनिक तत्त्वों में घोर मतभेद आरंभ होता है और इसी कारण अत्यंत सरल धार्मिक सिद्धांतों में संप्रदाय-भेद।

समय समय पर महान् पुरुषों ने संसार के सामने ऐसे सत्य सिद्धांत और आचार रखे हैं जिनको कुछ काल तक बहुसंख्यक लोगों ने माना और उनका अनुसरण किया, लेकिन काल और परस्थिति-भेद के कारण कोई भी मत या धर्म एक सा न रह सका। क्राइस्ट का उपदेश कितना सरल और सुबोध था, परंतु तो भी उनके देहांत के बाद ही ईसाई मत

का रूपांतर होना आरंभ हो गया और १४वीं १५वीं शताब्दी में तो यह हाल हो गया कि यदि ईसा स्वयं आकर अपने अनुयायियों को देखते तो उनको पहिचान भी नहीं पाते। मोहम्मद ने अनेक देवों की उपासना छुड़ाकर एक अदृश्य शक्ति पर विश्वास करने का मंत्र पढ़ाया और अपने सिद्धांतों को कुरान में निश्चित रूप दे दिया, तो भी उनके देहावसान के कुछ ही काल बाद उन्हीं की गद्दी पर बैठनेवाले और उन्हीं के निकट संबंधी उसमान ने कुरान में हेरफेर करना आरंभ कर दिया। नाममात्र को मिस्र से तुर्किस्तान तक इस्लाम धर्म का प्रचार हो गया था, लेकिन देश काल के अनुसार उसके सिद्धांतों में इतने भारी परिवर्तन हो चले थे कि इस्लाम धर्म का कायापलट हो गया था। खरीज लोगों का स्वातंत्र्य, शियाओं का अवतारवाद और महदी मे विश्वास, सूफियों की निर्गुण भक्ति, अकबर की सहिष्णुता, वर्तमान तुर्कों की धर्मो-पेक्षा—इन सबका कुरान में पता भी नहीं चलता। ये समय और स्थिति के फल हैं और मनुष्य के विचार-भेद, स्वीकृति-भेद तथा क्रिया-भेद के ज्वलंत दृष्टांत हैं।[१]

ईसा से लगभग ६०० वर्ष पूर्व एक भारतीय राजकुमार ने अनेक मतमतांतर, विहंडावाद और यज्ञहिंसा तथा आत्यंतिकी शारीरिक तपस्या को हेय समझकर निर्मल जीवन तथा तृष्णा-त्याग का उपदेश दिया और जनसाधारण की भाषा द्वारा अपने मूल सिद्धांतों को सबकी संपत्ति बनाते हुए शायद यह समझा कि भविष्य के लिये विचार-भेद तथा क्रिया-भेद बंद हो गए। वास्तव में हुआ यह कि जैसे बुद्ध से पूर्व भारत

(१) Politics in Islam—Khuda Bux.

में अनेक मतमतांतर थे वैसे ही उनके पश्चात् भी जारी रहे और स्वयं उनके सरल तथा सुगम मत में अनेक भेद, परिवर्त्तन, परिवर्धन तथा संशोधन होने लगे।

बुद्ध के समय में ६२ पंथ भारत में प्रचलित थे जिनका स्वयं उन्होंने खंडन किया है और जैन ग्रंथों में इनकी संख्या ३६३ तक दी हुई है। ये सब पंथ दो मुख्य संप्रदायों में विभक्त थे—एक ब्राह्मण संप्रदाय और दूसरा समण या श्रमण संप्रदाय। तित्थिय, आजीविक, निगंथ, मुंडसावक, जटिलिक, परिव्राजक, मागंडिक, तेदंडिक, एकसाटक, अविरुद्धक, गोतमक, देवधम्मिक, चरक, अचेलक आदि मुख्य ब्राह्मण संप्रदाय थे जिनके प्रधान आचार्य थे पूर्ण कस्सप, मक्खाली गोसाल, अजित, प्रकुध कच्चायन, संजय और निगंठ नातपुत्त। इन आचार्यों में कोई थे नास्तिक और कोई वादशील; कोई लोकायत और कोई वेतंडिक, कोई तेविज्जा (त्रयी विद्यावाले) और कोई सांख्यक। समणों के मुख्य तो चार भेद थे—मग्गजिन, मग्गदेसिन, मग्गजीविन और मग्गदूसिन, परंतु प्रत्येक संप्रदाय के अनेक उपभेद थे और सब मिलकर ६३ पंथ थे। इनके अतिरिक्त वे कर्मकांडी थे जो यज्ञ में जीवहिंसा को स्वर्ग का द्वार समझते थे।[1]

ऐसे विचारभेद और क्रियाभेद से छिन्न भिन्न भारत में बुद्ध ने चत्वारि आर्य सत्यानि और आर्य अष्टांग मार्ग का उपदेश दिया। चार सत्यानि हैं, दुःख, समुदय, निरोध और मार्ग। अर्थात् संसार दुःखमय है, दुःख का कारण तृष्णा है, तृष्णा का निरोध होना चाहिए। यह निरोध आर्य अष्टांग मार्ग का

(१) ब्रह्मजाल सूत्र।

अनुसरण करने से हो सकता है। यहाँ यह बतला देना अप्रासंगिक न होगा कि मानव जीवन के आध्यात्मिक रोग तथा उसके निरोध का यह सुंदर वर्णन आयुर्वेद तथा योग-सूत्र मे दिए हुए रोग और दुःख के वर्णन से मिलता जुलता[१] है। यह बहुत संभव है कि आयुर्वेद तथा योगसूत्र की वर्णनविधि में बुद्ध की विवेचन-विधि की छाया है, तो भी यह निर्विवाद सत्य है कि मानव-विचार-प्रवाह एक अविच्छिन्न धारा है जिसमे किसी भी जलबिंदु के लिये नहीं कहा जा सकता कि वह किस स्थान से आया है। इसलिये हम नहीं कह सकते कि याज्ञवल्क्य, बुद्ध, मूसा, ईसा, मोहम्मद या कानफ्यूशियस के विचार नितांत मौलिक थे। इन सबने पूर्व विचारो के आधार पर अपने विचारों का निर्माण किया और इसी प्रकार इनके विचारों के आधार पर अगले विचारों का निर्माण हुआ है।

बुद्ध ईश्वर के विषय में कुछ नहीं बोलते थे, यह सांख्य है। वे तृष्णा-त्याग और निर्मल जीवन का उपदेश देते थे; यह उपनिषद् है। वे संन्यास का महत्त्व बतलाते थे, यह भारत की पुरातन संस्था है। बुद्ध ने अपने सिद्धांतों के नामकरण में आर्य शब्द का उपयोग किया है, जैसे आर्य अष्टांग मार्ग और चत्वारि आर्य सत्यानि, जिससे स्पष्ट है कि वे कोई नवीन धर्म की रचना नहीं करना चाहते थे; किंतु आडंबर, जटिलता और शुष्क वाद-विवाद को हटाकर सरल सुगम शब्दों मे ऐसे आर्य सिद्धांतों का प्रचार करना चाहते थे जिनको वे संसार के लिये हितकर समझते थे। अपने

---

(१) Kern's Manual of Buddhism.

प्रत्येक भाषण में बुद्ध चत्वारि आर्य सत्यानि, आर्य अष्टांग मार्ग, संन्यास-ग्रहण तथा गृहत्याग पर जोर देते थे। लगभग इन्हीं बातों का उपदेश याज्ञवल्क्य और अन्य उपनिषत्-कालीन ऋषियों ने किया था लेकिन उनके सिद्धांतों ने वैयक्तिक रूप धारण नहीं किया। फिर क्या कारण था कि बुद्ध द्वारा प्रतिपादित धर्म आर्य-धर्म होते हुए भी एक अलग संप्रदाय बन गया ?

संसार के इतिहास में ईसा से पूर्व छठीं शताब्दी धार्मिक हलचल के लिये प्रसिद्ध है। इस समय भारत, चीन, सीरिया, मिस्र आदि देशों मे एक अपूर्व विचार-धारा बहने लगी थी। चीन मे कनफ्यूशियस, सीरिया में मूसा और भारत में बुद्ध परंपरागत विचारों के प्रति घोर अश्रद्धा प्रकट करके संसार के सामने एक नवीन विचार-धारा उपस्थित कर रहे थे। अंधविश्वास और पुरोहित-वाक्य-प्रमाण का जमाना विदा हो रहा था और विचारशील पुरुषों ने आध्यात्मिक विषयों पर प्रश्न, संदेह तथा तर्क करना आरंभ कर दिया था। बुद्ध ने तत्कालीन ज्ञानकांड तथा कर्मकांड दोनों का खंडन करके एक विशेष आचरण-प्रणाली का अनुसरण करने का लोगों को उपदेश किया और अपने अनुयायियों को संगठित करके अन्य लोगों से पृथक् कर दिया, जिससे उनके जीवनकाल में ही एक नवीन पंथ की स्थापना हो गई। उनके शरीर-संवरण के पश्चात् उनके अपूर्व व्यक्तित्व ने लोगों को उनके धर्म की ओर और भी आकर्षित किया।

बौद्ध धर्म के तीन मुख्य अंग हैं—बुद्ध का जीवन, उनके उपदेश और संघ। इनको बौद्ध लोग रत्नत्रय कहते हैं। ये गौतम

बुद्ध के देहांत के समय ही निश्चित हो चुके थे। कुछ काल बाद ही बौद्ध लोग यह मंत्र उच्चारण करने लगे थे—बुद्धं शरणं गच्छामि, धर्मं शरणं गच्छामि, संघं शरणं गच्छामि। तीनों वाक्यों का गायत्री की भाँति बौद्धों में पाठ किया जाता था। इन तीनों वाक्यों में बौद्ध धर्म का महत्त्व भरा हुआ था और उन्हीं तीनों में थी प्रचुर मतभेद की विपुल सामग्री। अगले कुछ पृष्ठों में यह बतलाने का प्रयत्न किया जायगा कि बुद्ध, धर्म और संघ इन तीनों विषयों पर काल, विस्तार तथा परिस्थिति के कारण किस प्रकार मतभेद उठ खड़े हुए।

बुद्ध के शरीरांत के बाद उनके भक्त लोग उनके जीवन तथा सामर्थ्य के विषय में अनेक प्रकार की कल्पना करने लगे। विद्वानों ने काव्य लिखकर अपनी विद्या को सफल किया और साधारण लोग अपनी अपनी बुद्धि तथा भक्ति के अनुकूल बुद्ध की कहानियाँ कहने सुनने लगे। बुद्ध के अपूर्व त्याग, अनंत परिश्रम, अद्भुत प्रभाव और मनोहर व्यक्तित्व से चकित होकर लोगों ने उनके पूर्वजन्म की कहानियाँ गढ़नी शुरू कर दीं। बुद्ध की शक्ति एक जन्म के त्याग और तप से प्राप्त नहीं हो सकती, यह अनेक जन्मों के निरंतर त्याग और तप का फल है—यह समझकर लोगों ने अनेक सुंदर जन्म-कथाओं की रचना की। कवियों ने कभी अपना काव्य-कौशल प्रकट करने के लिये और कभी भक्ति की मादकता के वश बुद्ध के सुंदर तथा शक्तिसंपन्न जीवन को अत्युक्तियों द्वारा अति सुंदर तथा अति शक्तिशाली बना दिया।[1] काव्य आदि कल्पना में बुद्ध का जीवन इतना खो गया कि वर्त्तमान इतिहासकार

---

(१) बुद्धघोष—बुद्धचरित, सद्धर्मपुंडरीक।

को बौद्ध साहित्य में गहरा गोता लगाए बिना उसका ठीक पता नहीं लगता।

शनैः शनैः बुद्ध की पूजा होने लगी। जिन स्थानों का उनके जीवन के साथ विशेष संबंध था वे पवित्र माने जाने लगे और असंख्य यात्री वहाँ आने लगे। महाराज अशोक से बहुत काल पूर्व गया, कपिलवस्तु, कुसीनगर, लुंबनी वन आदि स्थान बौद्धों के तीर्थस्थान बन चुके थे। महाराज अशोक ने आखेट-यात्रा त्यागकर इन सब स्थानों की यात्रा की थी और वहाँ पर भिक्षुकों को विपुल दान दिया था। जब बौद्ध धर्म का प्रचार विदेशों में हुआ तब इन स्थानों की प्रसिद्धि और भी बढ़ी और देश-देशांतरों से यात्री लोग इन स्थानों के यात्रार्थ आने लगे। फाहियान, सुंगयुन, ह्वान-चांग, इत्सिग—इन सब प्रसिद्ध चीनी यात्रियों ने इन स्थानों की यात्रा की थी। बुद्ध के उपदेशों पर आचरण करने की अपेक्षा उनके गुणों का गान करना अधिक आसान था। इस-लिये उनकी मृत्यु के बाद उनकी अस्थियों पर विशाल विहार बनवाने और उनके पूर्व-जन्म की कल्पित कथाओं की घटनाओं को पत्थरों मे खुदवाने में लोग पुण्य समझने लगे। आरंभ में यह सब अनुयायियों की भक्ति का प्रकटीकरण था लेकिन पीछे चलकर लोग बुद्ध को एक देवता के समान पूजने लगे। भरहुत के स्तूप पर पत्थरों की खुदाई मे गया में बुद्ध के दर्शनार्थ आए हुए जो राजा दिखलाए गए हैं उनके सामने बोधिवृक्ष के नीचे आसन पर बुद्ध के केवल चरण-चिह्न खुदे हुए हैं। लेकिन ईसा से पहली तथा दूसरी शताब्दी में जब उत्तर-पश्चिमोत्तर सीमा प्रदेश के बेक्टेरियन यूनानियों ने बौद्ध धर्म को ग्रहण कर

लिया तो उन्होंने बुद्ध की प्रतिमाएँ भी बनानी प्रारंभ कर दीं। संपूर्ण बौद्ध जगत् में प्रतिमाओं का प्रचार हो गया। बुद्ध-मूर्तियों के निर्माण में शिल्पी अपने कौशल को सफल समझने लगे और धनी अपने धन को। बौद्धों में यह विश्वास फैल गया कि बुद्ध की प्रतिमा बनवा देने में धर्मलाभ होता है। अपनी अपनी हैसियत के अनुकूल लोग काष्ठ, पाषाण, पीतल, चाँदी तथा सोने की छोटी और बड़ी प्रतिमाएँ बनवाने लगे। फाहियान तथा ह्वानचांग ने पश्चिमी भारत में अनेक विशाल बुद्धप्रतिमाएँ काष्ठ, पाषाण तथा चाँदी-सोने की बनी हुई देखी थीं। इस समय सारनाथ, साँची और भरहुत के अजायबघर में छोटी, बड़ी, सुंदर साधारण अनेक बुद्ध प्रतिमाएँ विद्यमान हैं।

तीसरी चौथी शताब्दी में बुद्ध की प्रतिमा के जुलूस निकाले जाने लगे थे। जब फाहियान खुतन जनपद में था तब उसने यह रथयात्रा का उत्सव देखा था। वह लिखता है कि "नगर से तीन चार लो पर भगवान् का रथ चार पहिए का बनाया जाता है। वह तीस हाथ ऊँचा होता है और चलता प्रासाद जान पड़ता है। सप्तरत्न के तोरण लगाए जाते हैं। रेशम की ध्वजा और चाँदनी से सुसज्जित किया जाता है। भगवान् की मूर्ति रथ में पधराई जाती है। दोनों ओर दो बोधिसत्व रहते हैं। सब देवता साथ साथ चलते हैं। सब मूर्तियाँ सोने-चाँदी की बनी हुई होती हैं। ..... राजा हाथ में फूल और धूप लिए नंगे पाँव नगर से रथ की अगवानी को जाता है। परिचारक पंक्तिबद्ध दोनों ओर रहते हैं। राजा साष्टांग दंडवत् कर फूल चढ़ाता है और धूप देता है......प्रत्येक संघाराम के अलग अलग रथ होते हैं।

उनकी रथयात्रा के लिये एक एक दिन नियत है।"[1] पाटलिपुत्र में भी फाहियान ने बड़ी धूमधाम से होती हुई रथयात्रा देखी थी। वह लिखता है कि रथयात्रा का प्रचार सारे देश भर में था। बुद्ध-प्रतिमा का ऐसा ही जुलूस ह्वानच्वांग ने कन्नौज में देखा था जहाँ महाराज हर्ष अपने हाथ से प्रतिमा पर छत्र लगाए हुए पैदल जुलूस के साथ चले थे।[2] इसी यात्री ने प्रयाग में महाराज हर्ष द्वारा बुद्ध-प्रतिमा का विधिवत् अर्चन देखा था।

बुद्ध के अपूर्व त्याग तथा लोकहितकारी सुंदर सरल उपदेशों के महत्त्व को तो लोग भूल गए और उनमें ऋद्धि तथा सिद्धियों की कल्पना करने लगे। अब बुद्ध धर्मोद्धारक तथा मार्गप्रदर्शक नहीं किंतु एक अनंत-शक्ति-संपन्न देव समझे जाने लगे। देवता उनसे मिलने आते थे, वे जहाँ चाहें वहाँ गगनमार्ग से जा सकते थे इत्यादि उनके विषय में कल्पनाएँ होने लगीं। इतना ही नहीं किंतु कहीं उनके कमंडलु, कहीं उनके दंड तथा कहीं उनके दाँत की पूजा होने लगी।[3] फाहियान ने देखा था कि नगरहार (हिड्डा) में बुद्ध के एक कपालखंड की पूजा होती थी। उस हड्डी पर सोना तथा हीरे-मोती जड़े हुए थे[4] और प्रतिदिन राजा प्रजा सब उसके दर्शन करने आते थे। बुद्ध के भिक्षापात्र के लिये फाहियान कहता है कि गरीबों के थोड़े फूल चढ़ाने से यह तुरंत भर जाता है पर यदि कोई बड़ा धनी बहुत से

(१) फाहियान—जगन्मोहन

(२) Beal—Western World, 317.

(३) फाहियान—जगन्मोहन—१२, २२, २३।

(४) Beal—Records of the Western World, pp. XXXIV

फूल चढ़ाने की इच्छा करे ते फूलों की सौ सहस्र या अयुत टोकरियों से भी वह नहीं भरता था।

हम पहले कह चुके हैं कि बुद्ध ने किसी नवीन मत का प्रचार नहीं किया था।[1] उन्होंने पुरातन आर्य धर्म के कुछ लोक-हितैषी तथा आत्मोन्नतिकारी अंगों पर जोर दिया था। विशेषता यह थी कि बुद्ध वेदों का प्रामाण्य नहीं मानते थे। आर्य सत्य-चतुष्टय, मध्यम पथ, तृष्णाक्षय, ये उनके मुख्य उपदेश थे। इन उपदेशों मे ईश्वर का कोई स्थान नहीं था। बुद्ध ने आस्तिकता का कभी खंडन नहीं किया, परंतु ते भी उनका मत निरीश्वरवाद है। यह बुद्ध धर्म के भावी रूपांतर का मुख्य कारण हुआ। मानव-हृदय की यह प्रकृति है कि जब तक वह किसी महान् शक्ति की उपासना नहीं कर लेता, उसे संतोष नहीं होता। सभ्यता के आदि काल से अब तक मनुष्य इस शक्ति को किसी न किसी रूप में पूजता आया है। भेद केवल स्वरूप के विषय मे रहा है, सिद्धांत के विषय में नहीं। मिस्र, यूनान, रूम में अनेक प्रकार के देवों की प्रतिमाओं का पूजन होता था। ईरान और भारत में प्रकृति के महान् स्वरूपों का आह्वान किया जाता था और अदृश्य देवादिदेव की स्तुति की जाती थी। कभी भयविह्वल होकर और कभी प्रेममुग्ध होकर मनुष्य इस अलौकिक शक्ति को सदा पूजता था। इसलिये मानव-हृदय के नैसर्गिक गुण का प्रभाव बौद्ध मत पर पड़े बिना नहीं रह सकता था। बुद्ध जब तक जीवित रहे तब तक उनका आदर्श व्यक्तित्व लोक-हृदय की प्यास को शांत करता रहा। उनके परिनिर्वाण के पश्चात् बौद्ध-हृदय

(१) बुद्धधर्म की प्रतिष्ठा—सरस्वती, मई १९१४।

इधर उधर आश्रय ढूँढ़ने लगा। शुष्क-संन्यास और तृष्णा-त्याग के उपदेशों से लोगों की तृप्ति नहीं हो सकती थी। जनसाधारण को एक शांतिदायक आश्रय की आवश्यकता थी। इसलिये लोग बुद्ध के विमल गुणों का चिंतन तथा कथन करके इस प्यास को बुझाने लगे और परमात्मा के समान उनकी पूजा करने लगे। महायान संप्रदाय के बौद्ध पंडितों ने बुद्ध ही को स्वयंभू तथा अनादि अनंत परमेश्वर का रूप दे दिया। वे कहने लगे कि बुद्ध का निर्वाण तो उन्हीं की लीला है; वास्तव मे बुद्ध का कभी नाश नहीं होता। वे सदैव अमर रहते हैं। इसी प्रकार बौद्ध ग्रंथों मे यह प्रतिपादन किया जाने लगा कि बुद्ध भगवान् समस्त संसार के पिता, और सब नर नारी उनकी संतान हैं; वे सब को समान दृष्टि से देखते हैं, धर्म की व्यवस्था बिगड़ने पर वे केवल धर्म की रक्षा के लिये समय समय पर बुद्ध के रूप मे प्रकट हुआ करते हैं; और देवादिदेव बुद्ध की भक्ति करने से, उनके स्तूप की पूजा करने से, अथवा उन्हें भक्तिपूर्वक दो चार पुष्प समर्पण कर देने से मनुष्य को सद्गति प्राप्त हो सकती है[1]; किसी मनुष्य की सारी आयु दुराचरण में क्यों न बीती हो, परंतु मृत्यु के समय यदि वह बुद्ध की शरण मे जाय तो उसे अवश्य स्वर्ग की प्राप्ति होगी। गृहस्थाश्रम में रहते हुए भक्ति द्वारा निर्वाण पद पा लेना असंभव नहीं है[2]। इसी समय बौद्धों को यह विश्वास हो गया था कि बुद्ध तथा अमिताभ आदि देवों का भक्त सुखावती

(१) सद्धर्मपुंडरीक २, ७७–६८; ५, २२; १५, ५–२२।
(२) मिलिंद पन्हो ३–७–७।

नामक अनंत सुखधाम स्वर्ग में जाता है जहाँ जन्म जरा मरण आदि कोई भी क्लेश नहीं होते।

इस प्रकार ईश्वर, भक्ति और स्वर्ग के भावों ने बौद्ध धर्म पर अपना अधिकार जमा लिया। शनैः शनैः बुद्ध के सिवाय और देवों की भी पूजा होने लगी। ब्रह्मा, विष्णु और महेश के स्थान में बौद्धों ने मंजुश्री, अवलोकितेश्वर तथा वज्रपाणि की कल्पना की और उनकी प्रतिमाओं का अर्चन होने लगा। फाहियान लिखता है कि "मथुरा में महायान के अनुयायी प्रज्ञा पारमिता, मंजुश्री और अवलोकितेश्वर की पूजा करते हैं।" आगे चलकर पाँच ध्यानी बुद्ध, पाँच बोधिसत्व और पाँच मानुषी बुद्ध माने जाने लगे और इनकी भी मूर्तियाँ बनने लगीं। फाहियान ने सिंधु नद के दाहिनी ओर दरद प्रदेश मे मैत्रेय बोधिसत्व की एक काष्ठप्रतिमा देखी थी जो अस्सी हाथ ऊँची थी और जिसका आसन पालथी के एक घुटने से दूसरे तक आठ हाथ चौड़ा था। इस मूर्ति के विषय में उससे कहा गया था कि "यहाँ पूर्वकाल में एक अर्हत था। वह अपनी ऋद्धि के बल एक चतुर कारु को तुषित स्वर्ग ले गया कि वह मैत्रेय बोधिसत्व की ऊँचाई लंबाई रूप आदि देख आवे और फिर उनकी काष्ठमूर्ति बना दे। आदि से अंत तक उसने तीन बार देखा तब कहीं मूर्ति बनकर तैयार हुई।[१] कपिशा प्रदेश की एक पहाड़ी पर ह्वानचाँग ने अवलोकितेश्वर की प्रतिमा का दर्शन किया था। वह लिखता है कि जो व्रत तथा श्रद्धापूर्वक उसकी पूजा करता था उसको अवलोकितेश्वर प्रतिमा में से बाहर निकलकर दर्शन

(१) Beal—Records of the Western World, p.60.

देते थे। उस देव का शरीर अत्यंत सुंदर था और वह यात्रियों की रक्षा करता था। साँची, सारनाथ और अन्य स्थानों पर अभी अनेक मूर्तियाँ बौद्ध देवों की, बोधिसत्वों की और ध्यानी बुद्धों की मिलती हैं।

जब बौद्ध धर्म विदेशों में फैला तब अवलोकितेश्वर की इसी रूप में अन्यत्र भी पूजा होने लगी। चीनी लोग उसको काइज़ (Kwan-tsz) अर्थात् संसार पर करुण-दृष्टि से देखने-वाला देव कहने लगे, और नेपाल में उसका नाम पद्मपाणि रखा गया। तिब्बत में उसको चेनरेसी वानचग कहते हैं और जापान में कुयनवॉन। महायान के संस्कृत ग्रंथों, में उसका नाम करुणार्णव तथा अभयंदद भी है। चीन पूर्वी तुर्किस्तान, ख्वारीज्म, अफगानिस्तान, तिब्बत, नेपाल और ब्रह्मदेश में भी बुद्ध तथा बोधिसत्वों की पूजा होने लगी और भिन्न भिन्न देश के अनुयायियों के पुरातन विश्वास, रीति-रिवाज तथा रूढ़ियाँ बौद्धधर्म के अंग मानी जाने लगीं। इस प्रकार बौद्ध धर्म का विस्तार उसके रूपांतर तथा विचार का महान् कारण बना। इस समय चीन में अमिताभ[1] नामक बौद्ध देवता की पूजा होती है। वहाँ उसको ओपेतो कहते हैं और उसके भारतीय गुणों में ईरानी देवता मिथ्रास के गुण भी मिला दिए गए हैं। एक विद्वान् का तो मत है कि भारतीय बौद्धों ने अमिताभ की पूजा ईरानियों से ली थी। संभव है कि विदेशी देवों के नए नामकरणों का संस्कार करके उनको बौद्ध देव माना जाने लगा हो। स्थानाभाव से इस प्रकरण को आगे नहीं बढ़ाया जा सकता। संक्षेपतः

(१) Buddhism in China, p. 128, by Beal.

इतना कहना पर्याप्त होगा कि बौद्ध निरीश्वरवाद मानव-हृदय की प्यास को न बुझा सका और सारा बौद्ध संसार गौतम बुद्ध को परमात्मा की भाँति पूजने लगा, बल्कि नए अनुयायियों ने अपने पुराने देवों को गुण, स्वरूप तथा नाम बदल-बदलकर बौद्धधर्म में प्रविष्ट कर दिया और इस प्रकार अनेक देवों की पूजा बौद्ध धर्म का प्रधान लक्षण बन गई।

हीनयान या महायान के त्रिपिटक तथा अन्य दार्शनिक ग्रंथ तो साधारण लोग न पढ़ सकते थे और न गूढ़ विषयों में उनका प्रवेश ही हो सकता था। बुद्ध तथा बोधिसत्वों की स्तुतियाँ तथा स्तोत्र उन लोगों का प्रधान धार्मिक साहित्य था जिसका वे नित्य पाठ किया करते थे। इन स्तोत्रों को बौद्ध लोग धारणी कहते हैं। आरंभ में धारणियाँ सुंदर स्तोत्र थीं जिनके द्वारा बौद्ध देवों का आह्वान किया जाता था, लेकिन शनैः शनैः ये देवीस्तोत्र और भैरवस्तोत्र के रूप में परिणत हो गए और लोगों का यह विश्वास होने लगा कि धारणियों के उच्चारणमात्र में कार्यसिद्धि की शक्ति है। फिर नाना प्रकार के मंत्र और तंत्रों में बौद्ध लोग विश्वास करने लगे और बुद्ध के नाम पर अनेक तंत्र-ग्रंथों की रचना होने लगी। चमत्कार मे लोगों का विश्वास पहले ही था। वे प्रत्येक बोधि-सत्व, तथा बुद्ध की शरीर धातुओं को इस शक्ति से संपन्न मानते थे। महेंद्र लंका मे धर्मप्रचारार्थ भारत से आकाश-मार्ग से उड़कर पहुँचा है, बुद्ध के चरण-चिह्न आप ही छोटे बड़े हो जाते हैं, उनका भिक्षापात्र श्रद्धालु भक्तों से शीघ्र भर जाता है पर गर्विष्ठ लोगों द्वारा कभी नहीं, उनका दंतधातु कई चमत्कार बतलाता है, स्तूप आग उगल सकते हैं

इत्यादि विश्वास भारत में ही नहीं किंतु संपूर्ण बौद्ध जगत् में ५वीं ६ठी शताब्दियों में प्रचलित थे। फिर ह्वानचांग के समय से मंत्र-प्रयोग की प्रधानता होने लगी। लोगों ने धारणियों को भी छोड़ दिया और अपनी मनोरथपूर्ति के निमित्त संक्षिप्त मंत्रों का उच्चारण करने लगे। यह महायान का रूपांतर मंत्रयान था।

दसवीं तथा ग्यारहवीं शताब्दी में मंत्रयान पर से भी कुछ लोगों की श्रद्धा हटने लगी और दर्शन, योग तथा भक्ति-उन्माद की ओर लोगों का मन झुकने लगा। महायान-अनुयायियों का विश्वास था कि आत्मा जब उन्नति करता है तब इस कामनापूर्ण पार्थिव संसार से ऊँचा उठता हुआ ऐसे लोक में पहुँच जाता है जहाँ न नाम है न रूप। फिर वहाँ से भी आगे बढ़ने पर खं मे अंतर्हित हो जाता है। इसी को महायानी लोग निर्वाण कहते थे। लेकिन नवीन विचार-वालों का, जो वज्रयानी कहलाने लगे, मत था कि अरूप-लोक से आगे बढ़ने पर आत्मा निरात्मा देवी के अंक में पहुँचता है। वज्रयानी लोग हिंदू तांत्रिकों की भाँति शक्ति की उपासना करने लगे और कुमारीपूजा[1] आदि तंत्रविधियाँ बौद्ध धर्म का अंग बन गईं। इस समय बौद्ध धर्म काफी विकृत हो चुका था, परंतु फिर भी उसमे विकार होना बाकी था। १२वीं १३वीं शताब्दी के आसपास कालचक्रयान नामक एक पंथ उठ खड़ा हुआ। वैसे कहने को इसका सिद्धांत था मृत्युञ्जय या अमर-पद-प्राप्ति; लेकिन व्यवहार में कालचक्रयान के

(१) Introduction to Modern Buddhism—H. P. Shastri, pp. 6-7.

अनुयायी भूत प्रेत आदि की पूजा करते थे, इसलिये इसको प्रेतयान कहा जाय तो अत्युक्ति न होगी।[1] इस संप्रदाय ने बुद्ध को भी महाप्रेत माना है, और इसके साहित्य में बुद्ध के नाम के अतिरिक्त बौद्धमत की अन्य कोई बात नहीं है।

बौद्धमत का एक विकृत रूप है नाथमार्ग। नाथ लोग हठयोग के द्वारा सिद्धि-प्राप्ति में विश्वास करते थे। नाथों का प्रसिद्ध आचार्य हुआ है मत्स्येंद्रनाथ। दशवीं शताब्दी की लिपि में लिखा हुआ इस आचार्य का एक ग्रंथ मिला है जिसमें बौद्धमत के किसी भी सिद्धांत का प्रतिपादन या वर्णन नहीं है, परंतु तो भी पाटन में मत्स्येंद्रनाथ को अवलोकितेश्वर का अवतार माना जाता है और उसकी पूजा होती है। राजपूताने की कई रियासतों मे नाथ लोग अब भी मिलते हैं और गोरख-नाथ को अपना आचार्य मानते हैं। इनका पेशा है मंत्र-तंत्र। कई रियासतों में इनको ईति-निवारण के लिये माफी जमीन मिली हुई है। १७वीं, १८वीं शताब्दी तक राजपूताने के उच्चाधिकारी और शासक यह विश्वास करते थे कि नाथ अपने मंत्रों द्वारा टिड्डी तथा ओले टाल सकता है। यह बात ध्यान देने की है कि नाथमार्गी बौद्ध गोरखनाथ को सप्ताचार्यों में नहीं गिनते।

बौद्धों का सहजीया संप्रदाय तंत्रमार्ग से मिलता जुलता है। इसका आचार्य था कान्हु जिसने संस्कृत तथा बँगला दोनों में ग्रंथ लिखे हैं। तिब्बत में अब तक इसकी पूजा होती है और वैशाख की पूर्णिमा के दिन इसके लिये बकरी

---

(१) Waddel—Lamaism, p. 20.

का बलिदान होता है। सहजीया संप्रदाय के तीन भेद हैं। अवधूती मार्ग, चांडाली मार्ग तथा डोमी मार्ग।

अंत में बौद्ध मत पर तंत्रमार्ग ने आक्रमण किया। तंत्र-मार्ग के विषय में विद्वानों का मत है कि वह विदेशी मत है और संभवत: सिथियन जाति के पुजारी लोगों द्वारा उसने भारत में प्रवेश किया है। यह कहीं से भी आया हो, लेकिन इसने बौद्ध मत पर खूब विजय प्राप्त की। तांत्रिक बौद्ध, बोधि-सत्व, मंजुघोष, अक्षोभ्य आदि देवों की पूजा करने लगे और उनसे सिद्धियाँ प्राप्त करने में विश्वास करने लगे।

बौद्ध संघ का निर्माण शाक्य राज्यविधान के ढंग पर किया गया था। इसलिये यह अति सुसंगठित तथा सुव्यव-स्थित संस्था थी। आरंभ में बुद्ध ने स्त्रियों को संघ में भर्ती नहीं किया था परंतु फिर आनंद के आग्रह से उनको लिया जाने लगा। संघ में प्रविष्ट होने के, अधिकारियों का निर्वाचन करने के, दैनिक चर्य्या के, तथा नियमोल्लंघन के समय दंड देने के नियम कठोर तथा सुनिश्चित थे। इसलिये बुद्ध के जीवनकाल में संघ उन्नति करता रहा और सुस्थिर बना रहा, परंतु नियमों की कठोरता अनेक भिक्षुकों को असह्य हो चली थी और असंतोष बढ़ता जाता था। केवल बुद्ध के प्रबल व्यक्तित्व के प्रभाव से यह दबा हुआ था। कहते हैं कि उनके परिनिर्वाण के पश्चात् ही सुभद्र नामक एक वृद्ध भिक्खु अपने साथियों से कहने लगा "रोने का या दु:ख करने का कोई कारण नहीं। अच्छा हुआ जो महाश्रमण से हमारा छुटकारा हो गया। वह हमको विधि-निषेध द्वारा निरंतर दुखी किया करता था। अब जो हमारी इच्छा होगी

सो हम करेंगे।"[१] इस प्रकार के व्याख्यानों के कुप्रभाव से संघ को बचाने के लिये महाकश्यप ने राजगृह में एक सभा की, जहाँ ५०० अर्हत एकत्र हुए, जिनमें उपाली तथा आनंद भी सम्मिलित थे। इस सभा में क्या निश्चित हुआ इसका न पूरा पता ही है और न इसकी छानबीन की इस लेख में आवश्यकता है। इससे यह तो स्पष्ट है कि संघ के भिक्खुओं में असंतोष, मतभेद तथा फूट परिनिर्वाण के बाद से ही प्रकट होने लगी थी।

बुद्ध के देहावसान के १०० वर्ष पश्चात् एक समय स्थविर यशस वैशाली गया और वहाँ महावन में टिका। वहाँ उसने देखा कि भिक्खु लोग दस निषिद्ध मार्गों का ग्रहण करने लग गए थे।[२] उसके कहने पर भी भिक्खुओं ने अपने निषिद्ध आचरण को नहीं त्यागा। यशस ने वैशाली में एक बड़ी सभा करवाई जिसमें विद्वान् वृद्ध भिक्खुओं की सम्मति से महावन के भिक्खुओं का आचरण निषिद्ध माना गया और संघ के दो खंड हो गए। कुछ पुस्तकों से यह भी ज्ञात होता है कि यशस आदि महावन के व्रिज्जिन भिक्खुओं ने पृथक् पृथक् सभा करवाई और दोनों के निर्णय भी पृथक् पृथक् हुए। कुछ भी हुआ हो, परिणाम यह अवश्य हुआ कि परिनिर्वाण के सौ वर्ष बाद बौद्ध संघ के दो भाग बन गए। एक भाग में प्राचीन नियमों का पालन होता था और दूसरे में सुभीते के अनुकूल नए नियमों का ग्रहण तथा पुराने नियमों का त्याग होता जाता था।

---

(१) Kern—Buddhism, चूलवग्ग ११, दीपवंश ४-५।
(२) चूलवग्ग ११।

विचार-भेद तथा आचार-भेद के कारण अशोक के समय में संघ के कई भाग हो चुके थे और होते जाते थे। इसका निवारण करने के लिये ही उसने पाटलिपुत्र में एक महासभा करवाई थी। इस समय विभज्यवादी, महासांगिक, स्थविर आदि संघ भिक्खुओं के प्रधान भेद थे और पारस्परिक मत-भेद इतना प्रबल हो चला था कि सभा में महासांगिक, स्थविरों को नहीं बुलाया गया। यह बहुत संभव है कि इस सभा ने जिन सिद्धांतों को निश्चित किया था उन्हीं का अशोक ने देश-देशांतरों में प्रचार करवाया हो। इस सभा के बाद भी संघ मे आचार-भेद तथा विचार-भेद बढ़ता ही गया। इसको रोकने के निमित्त महाराज अशोक ने अपने महामात्रों के नाम आदेश किया था कि जो कोई भी संघ में संप्रदाय-भेद करने का यत्न करे, चाहे वह भिक्खु हो या भिक्खुणी, उसको श्वेत वस्त्र पहनाकर संघ से निकलवा दिया जाय।[1] एक समय २०० निषिद्धाचारी भिक्खुओं को अशोक ने संघ से निकलवा भी दिया था। परंतु इस प्रकार के राज्यादेशों से संघ मे संप्रदाय-भेद होना बंद नहीं हो सका।

अशोक के प्रचार से जब बौद्ध धर्म देश-देशांतरों में फैला और सब जगह लोग प्रव्रज्या ग्रहण करके संघ में सम्मिलित होने लगे तो आचार-भेद तथा विचार-भेद बढ़ना स्वाभाविक ही था। इसी के बाद महायान तथा हीनयान—ये दो मुख्य मार्ग उठ खड़े हुए और दोनों के भिक्खु तथा भिक्खु-णियों के संघ अलग अलग स्थापित होने लगे। इन दोनों संस्थाओं के निर्माण, विचार, आचार, तथा उद्देश्य में भी

(१) अशोक के स्तंभलेख—सारनाथ।

भारी भेद था। दोनों के सिद्धांत भी उत्तरोत्तर पृथक् होते जाते थे और भेद में प्रभेद हो रहे थे।

महाराज कनिष्क के समय में संघ के भिक्खु लोग १८ संप्रदायों में विभक्त हो चुके थे और शायद इनको ही एक करने के निमित्त जलंधर में महासभा की गई थी। प्रत्येक संप्रदाय के दार्शनिक तथा धार्मिक विचार भी बदलते जाते थे। शंकराचार्यजी ने वेदांत सूत्रों में चार मुख्य बौद्ध संप्रदायों का खंडन किया है। वे ये हैं—सौत्रांतिक, वैभाषिक, योगाचार और माध्यमिक। इन चारों संप्रदायों के विचारों में भारी भेद था और इसलिये इनके संघ भी अलग अलग थे। इनमें माध्यमिक लोग नितांत शून्यवादी थे। इनके मतानुकूल यह संसार स्वप्न है, न यहाँ कोई अस्तित्व है, न जन्म, न मरण और न निर्वाण। यहाँ तक कि ये लोग बुद्ध के अस्तित्व को भी नहीं मानते।

(५) आलोचना

(१) महाकवि बिहारीदास जी की जीवनी

ब्रजभाषा-मर्मज्ञ साहित्य-सेवी बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर ने स्वरचित "बिहारी-रत्नाकर" नाम की एक बड़ी विद्वत्तापूर्ण टीका बिहारी-सतसई पर प्रकाशित की है। इस टीका की प्रशंसा बड़े बड़े विद्वानों ने की है। उसके विषय में विशेष लिखने की आवश्यकता नहीं है। "बिहारी-रत्नाकर" के प्राक्-थन में सतसई की प्राचीन प्रतियों तथा उनके पाठ-भेद के विषय में रत्नाकर जी ने भली भाँति विवेचन किया है और बिहारी की जीवनी इत्यादि पृथक् भूमिका में प्रकाशित करने का वायदा किया है। इस ही वायदे के अनुसार रत्नाकर जी ने "काशी-नागरी-प्रचारिणी पत्रिका भाग ८ अंक १ तथा २" में बिहारी की जीवनी पर एक लेख प्रकाशित किया है। इस लेख में अब तक की उपलब्ध समग्र सामग्री पर अनुमानों को अवलंबित करके यह जीवनी लिखी गई है। इसमें पाठकों से अनुरोध किया गया है कि बिहारी के संबंध मे उनको कोई और वृत्तांत विदित हो तो वे सूचित करें, जिससे "बिहारी-रत्नाकर" की भूमिका में उन बातों पर भी विचार किया जा सके। रत्नाकर जी की इस आज्ञा के अनुसार हम कुछ बातें उपस्थित करते हैं। आशा है कि रत्नाकर जी इन पर विचार करेंगे।

१—स्वर्गीय बाबू राधाकृष्णदास जी ने कोई ३० वर्ष पूर्व "कविवर बिहारीलाल" नाम की एक छोटी सी पुस्तक

लिखी थी, जिसको काशी-नागरीप्रचारिणी सभा ने प्रकाशित किया था। इस पुस्तक में उक्त बाबू साहब ने यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया था कि बिहारी के पिता महाकवि केशवदास थे।

अपने लेख में रत्नाकर जी ने इस विषय पर विचार किया है और छः-सात पृष्ठों में इस अनुमान की पोषक और विरुद्ध उक्तियाँ दी हैं। रत्नाकर जी अंत मे लिखते हैं—

"ऊपर जो बातें लिखी गई हैं, उनसे सुप्रसिद्ध कवि केशवदास जी ही को बिहारी का पिता मानना संगत प्रतीत होता है, पर इस समय विद्वन्मंडली की धारणा इसके विरुद्ध है। अतः जब तक इस बात के और कुछ पुष्ट प्रमाण हाथ न आवे, तब तक हम भी बिहारी के पिता अन्य ही केशव मानकर यह जीवनी लिखते हैं।"

हमारे विचार से कुछ बातें ऐसी हैं जो महाकवि केशवदास और बिहारी के पिता-पुत्र संबंध की संभावना के बिलकुल विरुद्ध हैं—

१—केशवदास सनाढ्य थे, बिहारी चौबे थे। इन दोनों में पिता-पुत्र का संबंध कैसे हो सकता है? इस वैषम्य को रत्नाकर जी ने यह कहकर दूर किया है कि एक प्रकार के चौबे सनाढ्य चौबे भी कहलाते हैं परंतु बिहारी के वंशज न तो चौबे सनाढ्य हैं, न सनाढ्य चौबे हैं। वे तो शुद्ध कुलीन चौबे हैं। बिहारी के वंशज बालकृष्ण जी के पुत्र गोपालकृष्ण चौबे को हम जानते हैं, वे भरतपुर राज्यांतर्गत दीग स्थान में वकालत करते हैं। उनके विवाहादि सब संबंध, मैनपुरी, इटावा आदि स्थानों में जो चौबे मिलते हैं उन्हीं में होते हैं। यदि बिहारी सनाढ्य

चौबे होते तो उनके वंशजों के विवाह संबंध सनाढ्य ब्राह्मणों में होते, चौबों में न होते। विहारी के भानजे कुलपति मिश्र के वंशज भी शुद्ध कुलीन चौबे हैं, सनाढ्य चौबे अथवा चौबे सनाढ्य नहीं हैं। इसलिये जाति संबंधी वैषम्य केशवदास को सनाढ्य चौबे मानने से दूर नहीं होता।

२—केशव और विहारी के पिता-पुत्र के संबंध के विरुद्ध एक बात और भी है, नहीं मालूम रत्नाकर जी का ध्यान उस ओर क्यों नहीं गया। यदि विहारी केशवदास के पुत्र थे, तो वे कुलपति मिश्र के मामा तभी हो सकते हैं जब केशव-दास जी की कन्या का विवाह कुलपति मिश्र के पिता परशु-राम जी के साथ हुआ हो। केशवदास जी मिश्र थे और परशुराम जी भी मिश्र थे। मिश्र की कन्या का विवाह मिश्र के साथ नहीं हो सकता। इसलिये विहारी के पिता महाकवि केशवदास जी को मानना संभव नहीं है।

३—विहारी के पिता का नाम केवल केशव अथवा केशव राय नहीं था, बल्कि हमारे विचार से उनका नाम 'केसौ केसौ राय' था। इस विषय पर एक लेख हमने माधुरी में प्रकाशित भी किया था। कदाचित् वह लेख रत्नाकर जी के दृष्टिगोचर नहीं हुआ। उस लेख की मुख्य मुख्य बातें विचारार्थ उप-स्थित करते हैं—

(अ) विहारी का एक दोहा है—

प्रगट भए द्विजराज कुल, सुबस बसे ब्रज आइ।
मेरे हरो कलेस सब, केसौ केसौ राइ॥

इस दोहे की टीका में कुछ टीकाकारों ने लिखा है कि विहारी के पिता का नाम 'केसौ' था, परंतु, इसमें कुछ मत-

भेद है। (१) कोई टीकाकार तो प्रथम शब्द 'केसौ' को विहारी के पिता का नाम बताते हैं और दूसरे शब्द 'केसौ राय' को भगवान् श्रीकृष्ण के लिये उपयोग किया गया कहते हैं। (२) कुछ टीकाकार इसके विरुद्ध दूसरा शब्द 'केसौ राय' विहारी के पिता का नाम मानते हैं। विहारी के सब से प्रथम टीकाकार कृष्णलाल का मत प्रथम पक्ष में है, रत्नाकर जी दूसरा पक्ष मानते हैं।

(ब) कुलपति मिश्र ने अपने "संग्रामसार" ग्रंथ में अपना वंश वर्णन करते हुए अपने पितामह का भी वर्णन किया है—

"कविवर मातामहि सुमिरि, केसौ केसौ राइ।
कहौं कथा भारत्थ की, भाषा छंद बनाइ॥"

विचारने की बात यह है कि विहारी ने तो अपने उपरोक्त दोहे में दो शब्द केसौ तथा केसौ राइ का इसलिये उपयोग किया है कि उनको रूपक तथा श्लेष से, अपने पिता और भगवान् कृष्णचंद्र का वर्णन करना था, परंतु कुलपति मिश्र को क्या आवश्यकता थी कि उनके मातामह का नाम केवल केसौ राइ होने पर भी, एक शब्द केसौ और जोड़कर केसौ केसौ राइ लिखा है। कुलपति मिश्र के केसौ केसौ राइ लिखने से ज्ञात होता है कि उनके मातामह का नाम केसौ केसौ राइ ही था; केवल केसौ अथवा केसौ राइ नहीं था। कुलपति मिश्र विहारी के भानजे थे, इसलिये विहारी के पिता का नाम केसौ केसौ राइ ही था।

(३) रत्नाकर जी का अनुमान है कि कुलपति मिश्र ने उपरोक्त दोहे में महाकवि केशवदास जी का ही स्मरण

किया है, क्योंकि उस समय केशवदास जी को छोड़कर कोई अन्य कवि केशव नाम का नहीं था। हमारा कहना है कि उस समय में केसौ केसौ राइ नाम के कवि ही विद्यमान थे। केवल केसौ अथवा केसौ राइ के ढूँढ़ने की आवश्यकता नहीं है। "केसौ केसौ राइ" नाम के कवि ही मौजूद थे। रत्नाकर जी ने 'नवीन' कवि का प्रबोध-रस-सुधासर नामक ग्रंथ देखा है। कोई ३० वर्ष हुए तब उन्होंने स्वयं इस ग्रंथ के कुछ भाग को सुधासर नाम से प्रकाशित किया था। नवीन ने इस ग्रंथ में "केसौ केसौ राइ" के छंद उद्धृत किए हैं। हमारे देखने में इस कवि के छंद अन्यत्र भी आए हैं। दो छंद उदाहरण में नीचे देते हैं—

कवित्त केसौ केसौ राइ कौ—

ननद निगोड़ी कनसूआ कौरे लागी रहै,
सासु सुनिहै तौ नाह नाहर सौ करिहै।
केसौ केसौ राइ जना जन सुनै जी कौ ज्यान,
तुम तौ निडर परवस सो तौ डरिहै॥
फैलि जैहै अब ही चवाव बृजबासिन मे,
कहत सुनत कौन काकी जीभ धरिहै।
कह्यौ चाह्यौ सो तौ तुम मोहो सों बुलाइ कहौ,
आन कान परे तै लाखन कान परिहै॥

नायिका की उक्ति सखी के प्रति अथवा रतिप्रीता की उक्ति सखी के प्रति। कवित्त केसौ केसौ राइ कौ—

कोक कूक वोही करौ कोकनद फूल्यौ जिन,
सौंएँ गुरु जन गौएँ प्रेम रस चाखिए।

सोइए न जागिए री हिय सौं लगाइए पै,
हिय कौ हुलास आली काहू सौं न भाखिए।
कैसौ कैसौ राइ सों वियोग पलहू न होइ,
जीवन अवध गुन प्रेम अभिलाखिए।
कछुक उपाय कीजै ऊगन न भान दीजै,
दिन दाव दूव लीजै रातैं करि राखिए॥

भरतपुर मयाशंकर याज्ञिक

---

(२) मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था

इधर कई वर्षों से हमारे संयुक्त प्रांत की सरकार ने उर्दू और हिंदी साहित्यों की उन्नति और प्रचार के लिये हिंदुस्तानी एकेडेमी नाम की एक संस्था प्रयाग में खोल रखी है और उसके व्यय के लिये वह पचास हजार रुपए प्रति वर्ष देती है। अच्छे अच्छे मौलिक ग्रंथ आदि लिखवाकर अथवा अन्यान्य भाषाओं से उनका अनुवाद कराकर प्रकाशित कराना इसका मुख्य उद्देश्य है। दो वर्ष हुए प्रयाग में इस संस्था ने मध्यकालीन भारत की सामाजिक अवस्था पर श्रीयुक्त अल्लामा अब्दुल्लाह यूसुफ अली सी० बी० ई०, एम० ए०, एल-एल० एम० के और मध्यकालीन भारतीय संस्कृति पर श्रीयुक्त राय बहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचंदजी ओझा के व्याख्यान कराए थे। पहला व्याख्यान अल्लामा साहब का २, ३ और ४ मार्च सन् १९२८ को हुआ था। वही व्याख्यान उक्त एकेडेमी ने उर्दू में हिंदुस्तान के मआशरती हालात के नाम से प्रकाशित कराया था और उसका हिंदी अनुवाद यह "मध्यकालीन

भारत की सामाजिक अवस्था" है। इस प्रकार हिंदुस्तानी एकेडेमी व्याख्यानमाला की यह पहली पुस्तक है। इस हिंदी अनुवाद पर किसी अनुवादक का नाम नहीं दिया गया है।

अल्लामा अब्दुल्ला यूसुफ अली महोदय, जैसा कि उनके नाम और विद्या-संबंधी उपाधियों आदि से सूचित होता है, बहुत बड़े विद्वान् हैं। अरबी भाषा में "अल्लामा" बहुत बड़े और दिग्गज पंडित को कहते हैं और आपके बहुत बड़े पंडित होने में किसी को संदेह भी नहीं हो सकता। आप बहुत दिनों तक इस प्रांत में आई० सी० एस० में काम कर चुके हैं और भारत के सामाजिक जीवन के अनेक अंशों पर अँगरेजी में अनेक लेख आदि भी प्रकाशित कर चुके हैं। इतने बड़े दिग्गज विद्वान् की कृति के संबंध में कुछ कहने का साहस करना कोई साधारण काम नहीं है; और इसी लिये इस संबंध में मौन रहना ही हम अपने लिये श्रेयस्कर समझते हैं। परंतु अल्लामा महोदय के पांडित्य का पूरा पूरा सम्मान करते हुए और मन में उनके प्रति यथेष्ट आदर-भाव रखते हुए भी हम नम्रता-पूर्वक एक बात कहे बिना नहीं रह सकते। और वह यह है कि उनके समस्त व्याख्यान को आद्योपांत पढ़ जाने के उपरांत भी मध्य-कालीन भारत की सामाजिक स्थिति के संबंध में हमारे सरीखे अल्पज्ञ के अल्प ज्ञान में कोई विशेष वृद्धि न हो सकी। अपने कई सुयोग्य मित्रों को पुस्तक दिखलाने पर प्रायः हमारे उक्त मत की पुष्टि ही हुई। बल्कि एक मित्र ने तो यहाँ तक कहा कि इतनी साधारण बातें तो स्कूल के विद्यार्थी तक जानते हैं। संभव है कि हमारे मित्र की इस अंतिम

सम्मति में कुछ अत्युक्ति हो, तो भी इसमें कोई संदेह नहीं कि औसत दरजे के पढ़े-लिखे लोगों के लिये इसमें कोई विशेष ज्ञातव्य बात नहीं है। कम से कम इतना तो अवश्य है कि अल्लामा महोदय सरीखे विद्वान् से लोग इसकी अपेक्षा कुछ अधिक उच्च कोटि की बातें सुनने की आशा रखते हैं। इस पुस्तक में संस्कृत के कतिपय नाटकों के अँगरेजी अनुवादों, विदेशी यात्रियों के यात्रा-विवरणों तथा कुछ प्रसिद्ध इतिहासों के आधार पर हिंदुओं के सामाजिक जीवन की बहुत सी बातें बतलाई गई हैं। संभव है कि औसत दरजे के अँगरेजों और मुसलमानों के जानने योग्य इसमें बहुत सी नई बातें हों, परंतु कम से कम हिंदुओं के लिये तो इसमें कोई ऐसी नई और अनोखी बात नहीं है। दो प्रकांड विद्वानों की योग्यता की तुलना करने की सामर्थ्य तो हममें नहीं है; परंतु फिर भी हम सरसरी तौर पर इतना अवश्य कह सकते हैं कि इसके उपरांत मध्यकालीन भारतीय संस्कृति पर श्रीमान् गौरी-शंकरजी ओझा का जो दूसरा व्याख्यान हुआ था और जो अब छपकर प्रकाशित भी हो गया है, उसमें अपेक्षाकृत बहुत अधिक ज्ञातव्य बातें भरी हुई हैं—ऐसी बातें भरी हुई हैं जो जानने, समझने और मनन करने के योग्य हैं। भारतीय इतिहास का मध्यकाल साधारणतः ईसवी सातवीं शताब्दी से सोलहवीं शताब्दी के मध्य तक माना जाता है और यह काल अधिकांश में हिंदू काल था। इस काल के बने हुए बहुत से संस्कृत ग्रंथों का हिंदी में अनुवाद हो चुका है जो सर्व साधारण को उपलब्ध हैं। और इस व्याख्यान मे ऐसी बहुत ही कम बातें हैं जो उक्त अनुवादों तथा इतिहास संबंधी कुछ

और ग्रंथों के पाठकों को पहले से विदित न हों। इन व्याख्यानों के उर्दू में प्रकाशित होने से उर्दू साहित्य की भले ही श्रीवृद्धि हुई हो, परंतु यह बात निश्चित है कि हिंदी साहित्य की इससे कोई विशेष श्रीवृद्धि नहीं हुई। न इतना कहे बिना हम रह सकते हैं और न इससे अधिक और कुछ कह सकते हैं।

अब व्याख्यानों के विषय को छोड़कर हिंदी अनुवाद को लीजिए। अनुवाद अधिकांश में बहुत ही निकम्मा और रद्दी हुआ है, विशेषत: उसका आरंभिक अंश तो ऐसा है जो हिंदुस्तानी एकेडेमी की प्रतिष्ठा मे बट्टा लगानेवाला है। ऐसी शिथिल, भ्रष्ट, अशुद्ध और बेमुहावरे भाषा शायद बाजारू पुस्तकों मे भी न मिलेगी। इस संबंध मे कुछ अधिक न कहकर दो चार उदाहरण दे देना ही यथेष्ट होगा। पुस्तक के दूसरे ही पृष्ठ में एक वाक्य है—"उर्दू अक्षरों के सभी विविध रूपों को जो हाथ की लिखाई में देखने मे आती हैं।" सीधी सी बात है कि इस वाक्य में "आती हैं" की जगह "आते हैं" होना चाहिए। उसी पृष्ठ मे थोड़ी दूर आगे चलकर लिखा है—"पहला ही निगाह मे पढ़ लेना एक सहज काम और स्वाद सौंदर्य बन जाय।" जब लाख प्रयत्न करने पर भी इस "स्वाद सौंदर्य" का कोई अर्थ हमारी समझ में न आया, तब लाचार होकर असल मतलब जानने के लिये हमें उर्दू संस्करण देखना पड़ा। तब कहीं जाकर समझ में आया कि यह "जमालिया-ती-लज्जत" का अनुवाद है और उलटा या अशुद्ध अनुवाद है। इसका वास्तविक अभिप्राय यह है कि "उसका स्वरूप ऐसा सुंदर हो जाय जो नेत्रों के लिये सुखदायक हो।" अब पाठक ही

विचार करके देखें कि इस "स्वाद सौंदर्य" से यह अभिप्राय कहाँ तक निकलता है। पृष्ठ ७ में है—"हमारे इतिहास के मध्य युग का आरंभ सन् ६०० ई० से आरंभ किया है।" आरंभ शब्द ने यहाँ दो बार आकर शिथिलता का अंत कर दिया है। पृष्ठ ८ में एक स्थल पर है—"सिंधु की घाटी को इराक की प्राचीन सभ्यता से कुछ न कुछ संबंध जरूर था।" उर्दू में तो "ताल्लुक" से पहले "को" विभक्ति अवश्य आती है; परंतु हिंदी में "संबंध" से पहले "को" विभक्ति लाना किसी प्रकार उचित नहीं कहा जा सकता। और भी अनेक स्थानों पर इसी प्रकार आँखें बंद करके उर्दू ढंग से ही भाव प्रकट किए गए हैं। जैसे पृष्ठ ६ में "और विपरीत इसके"। पृष्ठ १२ में पहले ही वाक्य में लिखा है—"हमारे मध्यकाल सातवीं शताब्दी से आरंभ होकर सोलहवीं शताब्दी के मध्य में समाप्त हो जाते हैं।" यहाँ "मध्यकाल" को बहुवचन में रखने का क्या आशय है, यह अनुवादक महाशय ही बतला सकते हैं। साधारणतः हिंदी और उर्दू दोनों में "उस" या "उन" के साथ "वह" या "वे" आता है और "इस" या "इन" के साथ "यह" या "ये" आता है। परंतु पृष्ठ २३ के चार पाँच वाक्यों में इस नियम का ऐसा उल्लंघन किया गया है जिससे जान पड़ता है कि अनुवादक महाशय या तो यह भेद समझते ही नहीं और या इसे नितांत अनावश्यक समझते हैं। उदाहरणार्थ—"उनके घरों में संतरी का काम कुत्तों से लिया जाता था और यह लोग गायों पर सवार होते थे।" एक और वाक्य है—"उनका पहिरावा भद्दे से जंगली रेशम का होता था और बिछौने की

जगह ये लोग सूखी खालें काम में लाते थे।" इससे तो यही सूचित होता है कि भद्द से जंगली रेशम के पहिरावेवाले कोई और लोग थे और बिछौने की जगह सूखी खालें काम में लानेवाले उनसे भिन्न कुछ और ही लोग थे। परंतु वास्तव में यह बात नहीं है। ये दोनों ही बातें एक ही प्रकार के व्यक्तियों के लिये कही गई हैं। पृष्ठ २७ में लिखा है—"यहाँ सूर्य के आतप से बड़ा सुख मिलता था।" इससे अभिप्राय निकलता है कि सूर्य का आतप ही सुखकर होता था; परंतु वास्तविक अभिप्राय यह है कि यहाँ सूर्य के आतप से बहुत रक्षा होती थी। पृष्ठ २८ में है "चित्र उतारने की कला की पराकाष्ठा को प्रमाणित करते हैं।" पृष्ठ ३५ में है—"इस कथाओं के संग्रह में" परंतु होना चाहिए—"कथाओं के इस संग्रह मे"। पृष्ठ ६२ में है—"जयचंद ने स्वयंवर का दरबार नियुक्त करने में अनुचित साहस का काम किया है।" "दरबार" शब्द के साथ "नियुक्त" का प्रयोग बहुत ही खटकता है। साथ ही स्वयंवर को दरबार बतलाकर अनुवादक ने भी "अनुचित साहस का काम किया है।" उसी पृष्ठ में "दरबार खुल गया" की जगह "दरबार लग गया" होता तो वाक्य बामुहावरे हो जाता। "असफलता", "प्रभावित" और "भेष" आदि अनेक असिद्ध शब्द भी स्थान स्थान पर देखने मे आते हैं। तात्पर्य यह कि भाषा की दृष्टि से यह पुस्तक किसी प्रकार अच्छी और संतोषजनक नहीं कही जा सकती। हिंदुस्तानी एकेडेमी द्वारा प्रकाशित इस पहले ही ग्रंथ की यह दुर्दशा देखकर हमें बहुत ही दुःखी और निराश होना पड़ा है।

इसी प्रसंग मे एक और बात कह देना भी आवश्यक जान

पड़ता है। इस पुस्तक में सुयोग्य लेखक या व्याख्याता महोदय ने कई ऐसे ऐतिहासिक प्रवादों का ऐतिहासिक सत्य घटनाओं के रूप मे उल्लेख कर दिया है जिनका ऐतिहासिक दृष्टि से खंडन हो चुका है। "राजपूतों का शिष्टाचार और शील" के प्रकरण में "राजपूतों के सामाजिक जीवन पर विशेष प्रकाश डालने के लिये" प्राय: सात पृष्ठों मे संयोगिता के स्वयंवर और पृथ्वीराज के उसे भगा ले जाने का बहुत ही विस्तारपूर्वक उल्लेख किया गया है। परंतु विज्ञ लोग जानते हैं कि ऐतिहासिक अन्वेषण द्वारा यह बात प्रमाणित हो चुकी है कि यह घटना मिथ्या और कल्पित [illegible] प्रकार की और भी अनेक बातें हैं जिनका यदि विस्तारपूर्वक वर्णन किया जाय तो एक पोथा तैयार हो सकता है। परंतु यहाँ इतना अवकाश नहीं है; इसलिये पाठकों को इतने से ही सब बातें समझ लेनी चाहिएँ।

एकेडेमी के सदस्यों मे अँगरेजी, हिंदी और उर्दू के बड़े बड़े विद्वान् लोग हैं। सुनते हैं कि वह व्याख्याताओं, लेखकों और अनुवादकों आदि को पुरस्कार भी बहुत अच्छा देती है। जो काम इतने अधिक व्यय से और इतने बड़े बड़े विद्वानों के तत्त्वावधान में हो, उसमे इस प्रकार की त्रुटियाँ शोभा नहीं देतीं। हम आशा करते हैं कि भविष्य मे पुस्तकें आदि प्रकाशित करते समय हमारी इन नम्र सूचनाओं पर ध्यान दिया जायगा और एकेडेमी की पुस्तकें सभी दृष्टियों से आदर्श निकलेंगी।

पुस्तक का कागज, जिल्द और छपाई आदि सभी बातें बहुत अच्छी हैं; और छपाई की उत्तमता का सबसे बड़ा प्रमाण यह है कि पुस्तक प्रयाग के सुप्रसिद्ध इंडियन प्रेस की छपी हुई है।

नंददुलारे वाजपेयी